द्वारका - प्रवेश

[खंड काव्य]

स्वज्ञातिबन्धुरक्षार्थं समुद्रे भीमनादिनि ।
चकार द्वारका दुर्गमेकरात्रेण माधवः ॥

— (गर्गसंहिता)

भूमिका लेखक —

डॉ० देवकीनन्दन श्रीवास्तव

प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग

लखनऊ विश्व-विद्यालय

प्रकाशक —

रामेन्द्र पाण्डेय

..२३ वि०] [मूल्य - एक रुपया

समर्पण –

उन्हीं द्वारकाधीश पूर्णावतार भगवान श्रीकृष्ण को,
– जिनकी प्रेरणा एवं अनुग्रह का ही प्रस्तुत काव्य प्रसाद है।

त्वदीयं वस्तु गोविन्द !
तुभ्यमेव समर्पये ।

अकिंचन –
"चन्द्रमणि"

प्रकाशकीय

साहित्य के समस्त क्षेत्रों में आज खड़ी-बोली की परिव्याप्ति है, इसके पूर्व ब्रजभाषा का साहित्य पर एकछत्र अधिकार था। हिन्दी-गद्य-निर्माताओं की अथक साधना के फलस्वरूप साहित्य के एक क्षेत्र में खड़ी बोली का प्रवेश अवश्य हो पाया था, किंतु वे ही खड़ी बोली के कर्णधार उसे काव्य के क्षेत्र में लाने के समर्थक न थे। आधुनिक गद्य के जन्मदाता श्री भारतेन्दु तक का यही विचार था "कविता की भाषा निस्सन्देह ब्रज-भाषा ही है और दूसरी भाषाओं की कविता इतना चित्त नहीं पकड़ती।" इसलिये उन्होंने काव्य के क्षेत्र में ब्रजभाषा को ही महत्व दिया, किन्तु समय की बदली "माँग" को देखकर उन्होंने ही सर्वप्रथम काव्य में खड़ी बोली का प्रयोग किया था। उनकी 'फूलों का गुच्छा', 'विनय प्रेम-पचासा' तथा अन्य कृतियों में खड़ी बोली का पूर्ण सफल प्रयोग देखा जा सकता है। आगे चलकर खड़ी बोली को पूर्णरूप से काव्य-क्षेत्र में लाने का श्रेय आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी एवं उनके सहयोगियों को है। इस काल में खड़ी-बोली का आज का सा परिष्कृत और परिमार्जित रूप खोजना व्यर्थ होगा। जिस प्रकार ब्रजभाषा को सर्वाधिक परिमार्जित और परिष्कृत होने का स्वर्णावसर रीति काल में प्राप्त हुआ था, उसी प्रकार खड़ी-बोली का परिमार्जन और परिष्करण छायावादी युग में हुआ। अतएव द्विवेदी-युगीन भाषा का आज की सी भाषा के रूप में न होना स्वाभाविक है।

'द्वारका प्रवेश' का प्रणयन द्विवेदी-युग में उस समय हुआ था, जब इसी युग के कवि 'हरिऔध' जी का खड़ी-बोली का सर्वप्रथम महाकाव्य' 'प्रिय-प्रवास' हिन्दी जगत के सम्मुख आया था। इसकी प्रसिद्धि ने द्वारका प्रवेशकार को भी अपनी ओर आकृष्ट किया। फलतः उसने भी अपने आराध्य की लीला का गान 'प्रिय-प्रवास' की भाषा-शैली का आधार लेकर कर डाला। चन्द्रमणि जी ने श्री हरिऔध से यह प्रेरणा विषय और शैली दोनों रूपों में नहीं अपितु शैली-रूप में ही ग्रहण की है। उन्होंने अपने 'चरित नायक' को हरिऔध जी की भाँति 'आज की दृष्टि' से देखना भी आवश्यक नहीं समझा। प्रिय-प्रवासकार कृष्ण की अलौकिकता की अव-हेलना चाह कर भी नहीं कर पाया है। फलतः वह अपने इस प्रयास में

असफल हो गया है । उसका 'राम' के दार्शनिक पक्ष को भूलकर उसे एक सामान्य नृत्य मानकर गोपियो को अपने पति के साथ नृत्य करते हुए दिखाना अलौकिक पक्ष की अवहेलना का ही सूचक है । प्रिय-प्रवासकार की भाँति द्वारका-प्रवेशकार को ऐसा दिखाना अभिप्रेत न था, क्योकि उसे इस "राम खुदइया" मे विश्वास नही । उसने इस काव्य का सृजन अपने आराध्य के चरणो मे काव्याजलि समर्पित करने की भावना को लेकर किया है, क्योकि 'भक्ति-चतुष्टय' के अन्तर्गत आराध्य की लीला का गान विशेष महत्व रखता है । चन्द्रमणि जी पहले भक्त है, बाद मे साहित्यकार । साहित्य तो उनकी भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र है । इसी माध्यम का आधार लेकर ही उन्होने 'प्रणयन किया है ।

'द्वारका प्रवेश' अपने मे उन सभी तत्वो को सजोये हो है जो एक सफल साहित्यिक कृति के लिए आवश्यक होते है । 'रामचरित मानस' और 'विनय पत्रिका' का प्रणयन गोस्वामी जी ने भी यशोपार्जन के उद्देश्य से नही किया था, (फिर भी ये साहित्यिक कृतियाँ है) ये रचनाये भी 'स्वान्त सुखाय' है जिनमे एक भक्त–हृदय ने आराध्य के लिये अपने हृदय के भावो को साहित्य के माध्यम से साकारता प्रदान की है । अतएव 'द्वारका प्रवेश' भी 'मानस' और विनय पत्रिका की भाति उन्ही भक्ति एव साहित्य सम्बन्धी विशेषताओ से युक्त होने का कारण प्रशस्य है ।

इस काव्य का 'परिचय' लिखकर पूज्य डा० देवकीनन्दन श्रीवास्तव ने इसके साहित्यिक मूल्य की और अधिक अभिवृद्धि कर दी है । अतएव उनकी इस महती कृपा के सम्मुख मै सदैव नत-मस्तक हूँ । पूज्य डा० साहब ने इसकी भूमिका डेढ वर्ष पूर्व लिखी थी, जबकि इसका प्रकाशन आज होने जा रहा है । इस विलम्ब के अनेक कारण है, किन्तु अपनी सुरक्षा के लिए उन कारणो का 'लेखा–जोखा' न देकर हम डा० साहब से क्षमा याचना करते है । मुझे विश्वास है कि वे मेरे इस 'अक्षम्य अपराध' को भी क्षमा करने की कृपा करेगे ।

— विनयावनत

रामेन्द्र

भक्त सुकवि श्री चन्द्रमणि द्वारा विरचित 'द्वारका-प्रवेश' शीर्षक खण्ड काव्य भगवान श्रीकृष्ण के दिव्य जीवन के इसी रोमाञ्चकारी प्रसंग का नाटकीय एवं कला-पूर्ण चित्रण प्रस्तुत करता है। खड़ी बोली के प्रथम महाकाव्य के रूप में प्रसिद्ध हरिऔध-कृत 'प्रियप्रवास' से प्रेरणा लेकर इस काव्य का प्रणयन हुआ है। शब्दावली, छंद-योजना तथा प्रबन्ध-विधान सभी पर 'प्रिय प्रवास' की छाया और छाप प्रत्यक्ष है। संस्कृत वर्णिक वृत्तों में संस्कृत तत्सम खड़ी बोली में यत्र-तत्र ब्रज-भाषा का पुट देते हुए कवि ने प्रामाणिक पौराणिक तथ्यों के आधार पर इस सरस एवं ओज-पूर्ण काव्य का सृजन किया है। 'प्रियप्रवास' और 'द्वारका-प्रवेश' भाषा-शैली एवं रचना-विधान में पर्याप्त साम्य रखते हुए भी इस बात में परस्पर भिन्न हैं कि जहाँ 'प्रियप्रवास' में करुण और विप्रलम्भ शृंगार की धारा प्रभावित होती है वहाँ 'द्वारका-प्रवेश' एक उदात्त ओज-स्विता की गरिमा लिये हुए उत्साह-भाव की तीव्रता से अनुप्राणित है। बीच-बीच में प्रसंगानुसार अन्य व्यापक मनोभावों की भी सफल और सजीव अभिव्यक्ति हुयी है।

'द्वारका-प्रवेश' दस सर्गों में विभक्त ओज गुण-प्रधान खण्ड-काव्य है। 'प्रियप्रवास' की भाँति प्रकृति-चित्रण से काव्य का आरंभ किया गया है। "दिवस का अवसान समीप था, गगन था कुछ लोहित हो चला" .... की भाँति ही प्रथम सर्ग की आरंभिक पंक्तियाँ सान्ध्य-प्रकृति अरुणाभा का चित्र प्रस्तुत करती हैं: —

अभी गए थे सविता प्रतीचि को,
विशाल था अम्बर लाल रंग का,
निकेतनों में, तरु में, तड़ाग में,
विराजती थी रमणीय रागिमा।

शीघ्र ही कवि बड़े नाटकीय ढंग से यवनाधिराज की विशाल सेना के कोलाहल का विशद एवं जीवन्त चित्रण आरम्भ कर देता है – इस चित्रण में दृश्य के अनुरूप ही शब्दावली भी ओजपूर्ण होती गयी है। उदाहरणार्थ :-

धनुर्निषंगांकुश खड्ग चर्म औ,
कृपाण प्रासच्छुर तोमरादि से,
सुहावने कञ्चुक वर्म से सजे,
रणाभिलाषी अतिबली पदाति थे।

नारद - कृष्ण - संवाद के प्रसंग में नारद द्वारा कालयवन के जन्म और वरदानादि का वृत्तान्त तथा मरण की युक्ति की चर्चा जिस शैली में कवि ने प्रस्तुत की है उससे इस तथ्य की पुष्टि होती है कि कवि अपनी प्रसंगोद्भावना को यथा संभव सर्वत्र शास्त्र पुराण सम्मत आधार पर प्रतिष्ठित करना चाहता है।

यादवों के स्थान - परिवर्तन के सबंध में विचार करते हुये भगवान श्री कृष्ण के चित्त का अन्तर्द्वन्द्व मानव - मनोविज्ञान की स्वाभाविकता के धरातल पर चित्रित है और कवि की सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचायक है, लीला पुरुषोत्तम की यह चिन्ता - मुद्रा एक सहज मार्मिकता लिये हुए है। उनका निम्नलिखित वाक्य कितना हृदय द्रावक है :—

अतः चले बालक नारि–वृन्द ले,
कहीं रचेंगे निज वास दूसरा,
पड़ा यही योग मदीय जन्म में,
निवास का निश्चय हो कहीं नहीं।

गरुण का आह्वान करके उसके द्वारा अनुकूल वासस्थान खोज तथा फिर वहाँ सुन्दर नगर का निर्माण करने का आ दिलवाकर भक्त कवि ने भगवान कृष्ण के मानवीय घटना व्याप के मध्य उनकी अति मानवीय ऐश्वर्य की भी जीवन्त भा की दिखायी

मुचकुन्द की गुहा के वर्णन मे वर्णित वृत्तो के अनुरूप संस्कृ तत्सम शब्दावली की छटा बरबस हरिऔध के प्रिय प्रवास संस्कृत तत्सम - गर्भित शैली का स्मरण दिला देती है —

अन्धीभूता देखने मे गुहा थी ,
अन्त: सेवोव्यावृता कदरा थी ,
किंचित्किंचिद्भासमाना, सुसेव्या ,
रम्या धन्या योग-ससिद्धिदा थी ।

उपमा, रूपक और सादृश्यमूलक अलकारो का चमत्कार य यत्र-तत्र दृष्टि गोचर होना है —

अतुलित नृप-चिन्ता तामसी रात्रि सी थी ,
गिरि-घन-सम, सारा दृश्य था भीम रूपी ,
विकल मन हुआ है भूप का पद्म सा त्यो ,
प्रकट तरणि से थे देवकी पुत्र प्यारे ।
जलधर सम नीला गात था, पीत थे जो ,
वसन, तडित की सी तुल्यता है दिखाते ।
कलित कध पडा उपवीत जो ,
विलसता जिमि है धनु इन्द्र का ।
दशन भी बक - पक्ति समान थे ,
कर किलोल रहे मुख व्योम मे ,

कलित कुंडल कुंचित केकि से,
हिल रहे वह ज्यों उडते अहा,
नृपति का मन मत्त - मयूर भी,
लख बलाहक को रममाण था।
(सप्तम सर्ग)

द्वारका के लिये प्रस्थान करने से पूर्व जननी जन्म-भूमि के प्रति भगवान श्री कृष्ण के भावोद्गार कवि की समृद्ध भावुकता का परिचय देते हैं, द्वारकापुरी की साज सज्जा का विशद चित्रण कवि के वस्तु-वर्णन-कौशल का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

ग्रंथ के अंतिम अंशों में कवि ने भक्ति की महिमा का गान शास्त्र सम्मत रीति से किया है और इस प्रकार अपनी वैष्णव-निष्ठा की अभिव्यक्ति की है।

आधुनिक खड़ी बोली-काव्य इतना प्रौढ और विकसित हो चुका है कि उसके स्तर को देखते हुये प्रस्तुत खण्ड काव्य की भाषा शैली एवं वस्तु-व्यंजना में यत्र-तत्र अपेक्षित संस्कार, परिष्कार एवं कला-सौष्ठव का अभाव पाठकों को खटकेगा पर विषय की सांस्कृतिक श्रेष्ठता एवं उपयोगिता के समक्ष ये अभाव उतने बड़े नहीं प्रतीत होते — 'दारु विचारु कि करइ कोउ बंदिय मलय प्रसंग।

अस्तु मेरी मंगल कामना है कि 'द्वारका प्रवेश' के भक्त कवि को पाठकों द्वारा समुचित सम्मान प्राप्त हो और उनकी लेखनी उत्तरोत्तर जागरूक प्रतिभा का उन्मेष करती हुई भविष्य में अधिकाधिक कलापूर्ण एवं सुरुचि पूर्ण कृतियों के सृजन में समर्थ हो।

मार्गशीर्ष कृष्ण १२ सोमवार
प्राणकुटी, शिवपुरी
गौतम बुद्ध मार्ग, लखनऊ

देवकीनन्दन श्रीवास्तव
३०-११-१९६४

वक्तव्य

प्रस्तुत रचना 'द्वारका प्रवेश' खण्ड काव्य आज से लगभग पैंतीस वर्ष पूर्व लिखा गया था। हमारा वह समय पुराणों के अध्ययन एवं मनन का था।

कभी-कभी अलंकारिक रूपकों का भावार्थ न समझने के कारण अनभिज्ञ पाठक व्यर्थ की भ्रमात्मक शंकाओं में उद्विग्न होकर, तथ्य तक पहुँचने का प्रयास न करके कथानक के अस्तित्व पर ही तनावट से बा प्रहार कर देते है, एतावता उक्त भ्रम-निवारणार्थ भागवत आदि पुराणों का महाभारत जैसे प्राचीन भारतीय-इतिहास में समन्वय करने का अपना प्रयास चल रहा था।

हरिवंश महाभारत का ही परिशिष्ट है। श्रीकृष्ण-चरित्र का उत्तरार्ध विशेष रूप में वर्णित है। पुराणों के अनेक चरित्र उसमें तत्सम मिलते हैं। महापुरुष श्रीकृष्ण के द्वारका प्रवेश की घटना भागवत एवं हरिवंश में एक सी है। तत्कालीन यदुवंश-पुरोहित श्री गर्ग मुनि के द्वारा रचित 'गर्ग-संहिता' भी उपपुराण के रूप मे मान्य है। उसमें भी यह चरित्र इसी रूप मे पाया जाता है। तभी अपना विचार हुआ कि उपर्युक्त तीनों ग्रंथों के मतों के एकत्रीकरण हेतु लीला पुरुषोत्तम श्री कृष्ण का द्वारका-प्रवेश खण्ड काव्य के रूप मे अंकित किया जाय। पुस्तक निर्माण की यही महती प्रेरणा है। मात्रावृत्त छंदों के लिये श्री 'हरिऔध जी' के 'प्रिय प्रवास' से कवि प्रभावित है।

उन दिनों महिला - हित-कारिणी परिषद काशी' की मुख पत्रिका 'आर्य महिला' सुन्दर रूप मे निकल रही थी। वाराणसेय पत्र-पत्रिकाओं मे उसको विशिष्ट स्थान प्राप्त था, हमारी कोई न कोई रचना प्राय प्रत्येक अंक मे छपती थी। सम्पादकों के विशेष आग्रह पर हमने द्वारका प्रवेश की पाण्डुलिपि भी काशी भेज दिया और धारावाहिक रूप मे क्रमश इस प्रकार दस मास मे पुस्तक पूर्ण हो गयी।

अब रही भाषा की बात, प्रस्तुत पुस्तक का रचना-काल केवल खड़ी भाषा का ही न था, प्रत्युत् कुछ ही इने - गिने लब्ध खड़ी बोली का

ग्रंथकार——*
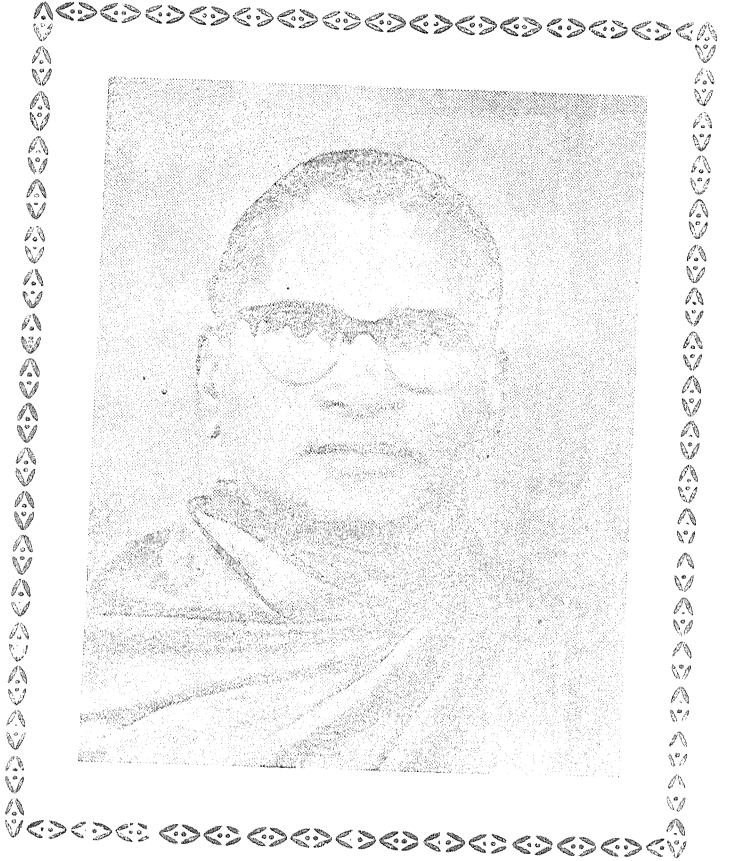
'चन्द्रमणि'

काव्य मे प्रयोग कर रहे थे, उस पर भी उनकी रचना के लिये मुँह बिचकाने वालो की भी कमी न थी। एक दिन किसी ऐसे ही सज्जन के प्रश्न पर स्वर्गीय श्री 'निराला' जी ने निम्नलिखित उत्तर दिया था —

"मेरी भाषा (कविता) एव उसके भाव मे आज से तीस वर्ष बाद समझे जा सकेगे।"

बहुत कुछ अशो मे उत्तर साकार हो रहा है। अस्तु, उस समय ख्याति-प्राप्त लेखक भी ब्रज अथवा अवधी - मिश्रित खडी भाषा का प्रयोग करते थे, वही छाया 'द्वारका - प्रवेश' पर भी है, पैतिस वर्ष उपरान्त आशिक सशोधन के अतिरिक्त पूरे ग्रन्थ की भाषा किसी प्रकार भी परिवर्तित नही की जा सकती।

कही-कही मात्रा-वृत्तो की गति सफल बनाने के लिये शब्दो को ऐठ कर वृत्तानुरूप कर दिया गया है, वह उसी प्रकार जैसे सस्कृत के धुरधर महाकवि ने 'त्र्यम्बक' शब्द को पद पूर्त्यर्थ —

'त्रयम्बक संयमिन ददर्श'

किया है, यद्यपि 'त्रिलोचन' कर देने मे भी वही अर्थ हो सकता था, परन्तु
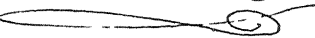
'अपि मापं मपं कुर्यात् छंदोभंगं न कारयेत्'

'द्वारका-प्रवेश' की रचना 'स्वान्त -सुखाय' के साथ ही भगवत्चरित्र वणन करके लेखनी को धन्य बनाना था, परन्तु अबतक उक्त खण्डकाव्य का पुस्तक-रूप मे प्रकाशन न हो सका और 'आर्य महिला' के वे कटे पृष्ठ नत्थी होकर अलमारी की ही शोभा बढाते रहे। प्रकाशन का समय भी तब आया, जब खडी भाषा का रवि मध्याह्नकाल के आकाश मे देदीप्यमान है, परन्तु इसमे वस्तुस्थिति मे कोई अन्तर न होगा। उस समय के कितने ही ग्रन्थ-रत्न आज उसी प्रकार समादृत हो रहे है। यही विचार कर इसे पाठको के करकमलो मे देते हुये हमे हर्ष है। इत्यलम् —

मातृ-भाषा हिन्दी का तुच्छ सेवक —

भारती भवन
बन्नावाँ
रायबरेली

व्यास-पूर्णिमा स० २०२३ वि०

श्री कृष्णाय नमः

—: प्रणाम :—

माथे पै मुकुट
रत्न - जटित प्रकाशमान,
मोरपङ्ख को किरीट -
लजित ललाम है ।

अलकावली असित,
कुण्डल कपोलन पै,
मुख - चन्द्र मुरली -
अमित अभिराम है ।

पीत - पट - पटुका लपेटे,
कटि - किंकिणी,
मयकमुखी राधा सग -
छटा छविधाम है ।

मंदमद हँसत,
आनद नदनंदन के -
चारु चरणों मे -
'चन्द्रमणि' का प्रणाम है ।

———o———

—: श्रीः :—

द्वारका - प्रवेश

प्रथम-सर्ग

(वंशस्थ)

अभी गये थे सविता प्रतीचि को,
विशाल था अम्बर लाल रंग का,
निकेतनों में, तरु में, तड़ाग में,
विराजती थी रमणीय रागिमा । १

महीरुहों में खगवृन्द कूजते,
बता रहे भास्कर का प्रयाण थे,
विभावरी - स्वागत के निमित्त वे,
असीम आनन्द अहा! मना रहे । २

शनैः शनैः तामस का प्रभाव भी,
विकाश पाता निशि चारु-अंक में,
अभी जहाँ थी रमणीय रागिमा,
विराजता ध्वान्त दिगन्त में वहाँ । ३

समीर का श्वास - विकास मन्द था,
न डोलती थी लतिका समाश्रिता,
असंख्य पत्रावलि भार-पीडिता,
द्रुमावली भी सविराम काय थी । ४

कहीं कहीं यूथ अनेक घूमते,
सदैव रक्षारत स्वीय क्षेत्र के,
अतीव उच्चस्वर से पुकारते,
विनिद्रितों को करते सचेत है। १५

अभी यहाँ का इस भाँति कार्य था,
समूह था आनंद - सिंधु में पगा,
घटी इसी काल विनाशकारिणी,
भयानका दुर्घटना बलीयसी। १६

तमाभिभूता निशि चारु अंक में,
कराल कोलाहल था सुना पडा,
शनैः शनैः बाजिपदावघात का,
प्रतीत होता स्वन कर्ण देश में। १७

परन्तु कोरा रव ही न था वहाँ,
प्रकाश भी किंचित धूलि-धूम्र था,
समीप से स्पष्ट दिखा पड़ा, अहो!
सवेग आती नर बाजि-वाहिनी। १८

असेत, लाले, अरुणाभ, बैगनी,
विधूम से, पाटल, स्वच्छ वर्ण के,
विमुग्धकारी उपधान से सजे,
तुरंग थे स्वीय तरंग में रँगे। १९

दिखा रहे चाल अनेक, शीघ्रता -
समेत मानो वह कामयान है,
छलाँगते वायु समान वेग से,
निनादकारी वर वीर को लिये। २०

कराल औ भूधरकाय, नीलता,
सवर्म झूलें हिलतीं इतस्ततः,
विमन्दगामी मदमत्त झूमते,
प्रलम्ब दन्तोयुत दन्तियूथ थे। २१

निशानवाले ध्वज में सजे हुये,
अनेक शस्त्रास्त्र समेत सारथी,
तुरंग से कर्षित, वायुयान ज्यों,
छटा बनी स्यन्दन की अनूपमा। २२

सवर्म औ झिल्लिम से सजे हुए,
सशस्त्र बैठे रथ में महारथी,
प्रभावशाली प्रधनाभिलाष के -
अनन्त आनन्द - पयोधि में पगे। २३

धनुर्निषंगांकुश, खड्ग, चर्म औ-
कृपाण प्रासच्छुर तोमरादि से,
सुहावने कंचुक चर्म से सजे,
रणाभिलाषी ऽतिवली पदाति थे। २४

इतस्ततः भृत्य खलासि वर्ग से,
भुसुण्डियाँ थीं बहमान यान सी,
विभीषिका सी, उस सैन्य मध्य में –
विनाशिनी, गोलक से सुसज्जिता। २५

अनेक शस्त्रों, गज, बाजि, वीर से,
सुशोभिता थी चतुरंगिणी चमू,
कराल गंभीर निनादकारिणी –
प्रभावशाली यवनाधिराज की। २६

विशाल उत्तुंग तुरग पीठ पै –
सक्रोध बैठा यवनाधिराज था,
प्रदीप्त वैश्वानर की समानता,
दिखा रहा तेज स्वकीय से महा। २७

बलाहकों के स्वन के समान ही,
दहाड़ता सेनप बारबार था,
"चलो, बढ़ो! वीर धुरीण सैनिको!
अरातियों के पुर को उजाड़ दो। २८

सपत्न है यादव युद्ध में बली,
निवास है श्री मथुरापुरी यही,
समीक में कंस, जरासुतादि को,
हता पछारा बसुदेव - सूनुने। २९

परन्तु वीरो ! डरना नही, सुनो –
गिरीश द्वारा वर प्राप्त है हमे,
सुवंश मे श्री यदु के जना हुआ,
सशस्त्र आये न मदीय सामने। ३०

इसीलिये मै यह वीर सैन्य ले,
सहर्ष आया रण - साज साज के,
कृपाण द्वारा यदुवंश मूल को –
उखाड़ना है हरतौर से हमे। ३१

अतः सभी सैनिक सावधान हो,
दिखा रही है मथुरापुरी यही,
स यान शस्त्रास्त्र सुधी सचेत हो,
उजाड़ डालो रिपु के निकेत को। ३२

प्रवीण वीरो ! यदि शत्रु घात मे –
निचेष्ट हो प्राण प्रयाण भी करे,
सुभाग्य है संचित पुण्य लाभ मे,
सुरेश का सद्म सुखेन प्राप्त है। ३३

मुनीश्वरो ने इन दो प्रकार के,
प्रयाण को उत्तम मृत्यु है गिना,
प्रयुक्त है ब्रह्म विचार मे, तथा –
सग्राम मे त्याग दिया शरीर को। ३४*

---

* द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमंडलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः॥ (विदुरनीति)

परन्तु जो वैरिचमू विनाश के,
अरिस्त्रियों को लख दुःख पीड़िता,
विभजि के मंदिर शत्रु - देश के,
सुखी फिरेंगे निज देश को, तभी। ३५

दुकूल रत्नों धन-धान्य से तुम्हें,
सुखी करूँगा, कहता न व्यर्थ हूँ,
विशेष देखूँ यदि शूर वीरता,
सहर्ष दूँ उच्च पदाधिकार भी। ३६

अभीष्ट खाते तुम राजकीय थे,
वही समाया रस रोम रोम में,
सभी दिखादो नृप-भक्ति आज ही,
यही तुम्हारा अति दिव्य कर्म है।"३७

कहा इसी भाँति समस्त सैन्य से,
जयाभिकामी यवनाधिराज ने,
चले सभी स्यन्दन बाजि नाग ले,
महारथी वे मथुरापुरी गये। ३८

महाबली सैनिक मुख्य भाग में,
तथा गये गोपुर के समीप में,
बरूथिनी तीन करोड़ याग्नी,
अलात सी सचलिता इतस्ततः। ३९

विशाल प्राकार समुच्च शृंग को,
 ढहा रहे, वे गिरते विचूर्ण हो,
सुवासिता सुन्दर पुष्प वाटिका,
 विदारिता, दग्ध यथा निदाघ में। ४०

विभंजमाना मथुरापुरी सभी,
 अतीव हा हन्त! अमित्र सैन्य से,
अराति का जो पुर नाशते सदा,
 अहो उन्हीं का पुर नाशमान है। ४१

---o---

द्वितीय - सर्ग

(वंशस्थ)

बिता रही थी युग याम यामिनी,
प्रकाशते तारक व्योम मे सभी,
असीम आलस्य घनांधकार था,
इसीलिये जीव सभी प्रसुप्त थे। १

(द्रुत विलंबित)

प्रवर भूषण - भूषित सद्म के,
अति सुहावन नीरव कक्ष मे,
दयित देवकिनंदन शान्ति मे
कुछ विचार-परायण हो रहे। २

यह अनीति भरी यवनेश की,
दुखद पापमयी विविधा क्रिया,
निज समाश्रित यादव-वंश का,
बृजिन नाश करूँ इस काल मे। ३

इसलिये यदुवीर निकेत मे,
कर विचार रहे बहु भाँति के,
अहह ! दैव, सुयोग्य उपाय क्या,
किस प्रकार हरूँ इस व्याधि को। ४

यवनराज चला इस काल है,
प्रथित यादव - वंश - विनाश को,
यदि करूँ इस काल समीक्ष मैं,
पर नहीं, यह हो सकता नहीं । ५

मगधराज जरासुत सैन्य ले,
अमित विक्रम सत्रह बार मे,
प्रबल यादव - वंश - विनाश के -
हित किया बहु कौशल युद्ध मे । ६

तदपि गो द्विज देव प्रताप से,
सफल सो न हुआ तिलमात्र भी,
सतत संयुग मे यदुवंश ने,
क्षय किया उसकी विविधा चमू । ७

पर अभी तक मान सका नहीं,
इसलिये अब भी यदि आ गया,
बहुत संभव है कल आ पड़े,
यदि न, तो परसो अनिवार्य है । ८

नृप युयुत्सुन की यह रीत है,
यदि लखें पर के प्रति आपदा,
तब उसे अधिकाश दुखी करें,
स्व अरिके अरि से कृत संधि है । ९

विविध क्रान्तिमयी यदुवंश की,
विविध क्रान्तिमयी कुटिला क्रिया –
निरख के जितने नरराज है,
वह सभी अभिघाति बने हुए। १०

बचन जो कहते ऋषिराज थे,
वह सभी शुचि सत्य सदैव ही,
मनुज जो सबसे हत बर है,
वह कभी सुख पा सकता नही। ११

अतिवली जितने अवनीश है,
वह सभी मुझसे हत बैर है,
अजित हूँ, फिर भी लडते अहो!
कुमति से मति कुंठित हो रही। १२

विधि, अहो! भवदीय विधान की,
कुशलता कह जा सकती नहीं,
अपितु जो लिपि मानव-भाल पै,
वह सभी भवितव्य अवश्य है। १३

कर रहे जन लोक-सुधार मे,
बहु पड़े उनके सिर आपदा,
सहनशील परन्तु बने हुये,
इसलिये सहते सब काल मे। १४

विपद् झञ्झन के झकझोर को,
न गिनते निज-कर्म प्रधान जे,
बस वही कृतकृत्य त्रिलोक मे,
विजय प्राप्त उन्हे परिणाम मे। १५

विविध कष्ट स्वयं सहता सदा,
कर रहा पर का उपकार है,
बस यही नर का शुभ कर्म है,
जग प्रशंसित सेवक-धर्म है। १६

कथित पंच महा मख शास्त्र मे,
श्रवण आदिक साधन है सभी,
कर नहीं सकते समता कभी,
जग प्रशंसित सेवक-धर्म है। १७

विविध भाव भरे पद-गान से,
न हरि हो सकते इतना सुखी,
सतत शिक्षक है इस मंत्र के,
जग प्रशंसित सेवक-धर्म है। १८

जगत मे सबको अधिकार है,
न इसमे कुछ वर्ण-विचार है,
बस यही शुभ से शुभ कर्म है,
जग प्रशंसित सेवक-धर्म है। १९

इसलिए अब मै यवनेश का—
सदल नाश करूँ रणभूमि मे,
दुखित यादव-वंश प्रसन्न हो,
अवनि का हलका कुछ भार भी। २०

इस प्रकार विचार - निमग्न थे,
जगत वन्दन शान्ति - निकेत मे,
सुन पडा परिदेवन दीन का,
वृजिन - पूरित द्वार समीप मे । २१

बस, उसी क्षण मे यदुवंश के –
जरठ, बाल, वधू महिला दुखी,
जगत मंगल श्याम - समक्ष मे,
विनय प्राञ्जलि हो करने लगे । २२

विपद भंजन, नाथ, दयानिधे !
सुखरोत्तम, श्रीधर हे हरे !
इस उपद्रव से यवनेश के –
तुम बिना अवलम्ब न अन्य है । २३

मृतक के तुम जीवन प्राण हो,
दुख - विमज्जित के तनु त्राण हो,
विरथ के अतिदिव्य विमान हो,
प्रणत को सुख-शान्ति निधान हो । २४

बक अघासुर धेनुक पूतना,
प्रवल व्योम - विमर्दन काल हो,
हरण हो पति मागध - दर्प के,
नृपति-कंश-निकंदन कृष्ण हो ! २५

तुम चतुर्मुख हो, तुम विष्णु हो,
तुम उमापति हो, अमरेश हो,
धनद हो, स्मर हो, सलिलेश हो,
अनल हो, शशि सूर्य प्रकाश हो। २६

तव कृपा बिन नाथ! दयानिधे!
जग न पा सकता सुखलेश भी,
जगत रक्षक! रक्षक के बिना,
जगत क्योंकर शान्ति निवास हो। २७

इसलिये हम हैं चरणों पड़े,
विपद भंजन, माधव हो हरे!
विपद के इस पूर्ण प्रहार से,
कर कृपा जन को कुछ शान्ति दो। २८

प्रभु हरे, गरुड़ध्वज, ईश! हे –
कमलनेत्र, चतुर्भुज हे स्वभू!
अखिल दुष्ट निकंदन पाहिमाम्,
अहह श्रीधर, केशव त्राहिमाम्। २९

करि यथामति कीर्तन, श्याम के –
सुयश का, अति उत्तम कर्म का,
नमित प्राञ्जलि औ पुलकाग हो,
कमल से चरणों पर आ गिरे। ३०

रुचिर देहलि द्वार कपाट की –
जगह शोभित बंश - कपाट है,
गठन वे अपना दिखला रहे,
व्यथित भारत के हित श्रेय जो । ४३

लड रहे निज शक्ति - समान वे–
असृण धूलि प्रभंजन - वेग में,
तदपि व्यर्थ परिश्रम हो रहा,
अधिक लज्जित क्षुब्ध स्वकीय मे । ४४

रुचिर मंदिर, तोरण, शृङ्खला,
अरर, चत्वर, चैत्य, सुवीथिका,
सकल है जिनके श्रम से बने,
वह रहे दुख मे अति दीन हो ? ४५

कुटिल भूपन की कटु नीति है,
सकल शासन - काल - कुयोग्यता,
कर रहे जिनका प्रतिपाल थे,
अब उन्ही पर है मचले हुए । ४६

दुसह शासन - संकट दे रहे,
हर रहे इनका धन - धाम भी,
फिर सदा सुचि शासक भी बने,
कुटिलता शठता यह देख लो । ४७

प्र[illegible] था उनमें नृप [illegible]स जो -
सुरभि भूसुर के [illegible]हित काल था,
अब प[illegible]तु कृपा द्विज देव की,
[illegible] गया उसका अवसान है। ४८

अपर भूप जरासुत है बली,
वाजिनि तेइस क्षोहिणि ले चला,
कर समीक पराजित हो गया,
मद परन्तु न नाश अभी हुआ। ४९

यवन वीर नरेश तृतीय है,
यवन - बाहिनि तीन करोड़ से,
अभय निर्दय हो मथुरापुरी,
कर विनाश रहा अति क्रोध से। ५०

रव सुनो पुर के जन - लोक का,
यवन है उनको दुख दे रहा,
निलज है, सठ है, अति नीच है,
कुमति है, क्षिति का गुरु भार है। ५१

इसलिए भगवन्! कर दो कृपा,
यवन का अति शीघ्र विनाश हो,
अनय का प्रति - वासर ह्रास हो,
विमल मानव-धर्म विकाश हो। ५२

——o——

तृतीय-सर्ग

(मंदाक्रान्ता)

ऐसी बाते दनुज रिपु की चारु रूपा मनोज्ञा,
वीणाधारी सदय सुनके हर्ष से व्यावृतात्मा।
बोले वाणी मुदित मन से माधुरी सी, सुधा सी,
संनम्रो को सुखद विजयी, शान्तिरूपा ललामा। १

"हे प्यारे, हे हृदय धन, हे विश्व के त्राणकारी!
हे कंसारी, प्रलयकर, हे पद्ममाली, बिहारी,
चिन्ता ज्वाला अतुल धरता चित्त मे व्यक्ति जो है
सो पावेगा कुशल न कभी बुद्धियोगी बताते। २

प्यारे, चिन्ता भ्रमित मन मे काम लेना न कोई,
जो कार्यो को नियत करना बुद्धि से चातुरी से,
पावोगे श्री, विजय, यश को, तेज भी शत्रुनाशी,
पूरा होगा सकल मनका, कीर्ति फैले रसा मे। ३

हे विष्णो! किन्तु रिपु वध का हेतु है दूसरा ही,
देखा जाता न यदुकुल मे वीर कोई कही भी,"
"ऐसा क्यो है?"चकित हरि ने व्यग्रता युक्त पूछा,
कल्याणार्थी अमर ऋषि ने एक गाथा बतायी। ४

[द्रुत विलम्बित]

कछुक ही दिन का इतिहास है,
अमित विक्रम यादव - वंश का,
सुकृत था, सब ही वरवीर थे,
रिपु - निकन्दन धर्म - धुरीण थे । ५

विदित भूतल से सुरलोक लौं,
विपुल विक्रम तेज प्रताप था ।
तिय, भयातुर निर्धन, बाल के,
वह सदाश्रय और शरण्य थे । ६

समय था अति दिव्य प्रभात का,
सकल यादव युक्त सभा सजी,
प्रमुख आसन पैं मुनि गार्ग्य थे,
तप - परायण इन्द्रिय संयमी । ७

(शार्दूल - विक्रीडित)

सीधे उच्च विचार के सुकवि थे, ज्ञानी अमानी सदा,
सन्मार्गी शुचि साधु शांतिनवृती औ ऊर्ध्वरेता क्षमी,
सच्छास्त्री, सुरुची, स्वतंत्र विपश्ची, तत्त्वावबोधी, सुधी,
संतोषी मुनिराज थे तपन से, सम्सार में सार से । ८

(द्रुत - विलम्बित)

जरठ बालक वीर बली युवा –
सहित पूर्ण प्रकाशित थी सभा,
रुचिर सुन्दर कान्ति, सुशोभिता
मधुरिमामय मानस मोहिनी । ९

चतुर चचल बालक वृन्द थे,
जरठ - बुद्धि - मरि पति - चन्द्र थे,
युवक चंचल बुद्धि - विचार मे -
अनृण थे, रण शाल-शूर थे । १०

प्रथम जो कुछ बात हुई वहाँ,
परम मंगल कारिणि वृद्ध की,
वह स्वदेश क्लेश - निवारिणी
विपद हारिणि शान्ति प्रसारिणी

फिर युवा जन बालक - वृन्द मे,
बहु प्रकार हुआ परिहास भी,
वह अनुक्रम से जरठादि मे,
कलहमूल विवर्द्धित हो गया । १२

बस, तभी सबके सब नार्य से,
कुपरिहास - कजा करने लगे,
"मदनहीन अहो मुनिराज ह
अति नपुंसक पुंसकलक हो

यह मनाज अमन्मथ है नहीं,
मनुज - दानव - देव प्रपीडक,
अजित था मकरध्वज रुद्र से,
इसलिये वह भस्म किया गया । १४

जब त्रिलोचन की यह है दशा,
सहस - लोचन लोलुप काम का,
फिर बिसात कहां नर की वहां,
परम दुर्जय अंग विहीन है। १५

फिर मुने! यदि था पुरुषत्व, तो,
न करते तिय की अवहेलना
इसलिये कुछ संशय है नहीं
तुम नपुंसक हो, स्मर हीन हो। १६

वचन यो सुनके मुनिराज का,
प्रबल कोप विवर्द्धित हो चला,
पर जितेन्द्रिय थे, इस हेतु वे,
कुटिल कोप स्वयं सहते गये। १७

तदपि बाण - समान प्रहार में
दुखित चित्त हुआ मुनिराज का,
प्रथित है, असि-धार बिंधा हुआ,
वचन के न सहे प्रतिघात को। १८

उधर यादव थे परिहास में
इधर गार्ग्य चले मन खिन्न हो,
सघन कानन में शितिकंठ का,
तप धृतव्रत हो करने लगा। १९

विमल द्वादस वर्ष हुये, तभी –
प्रकट हो शशिशेखर ने कहा –
'मुनि ! अहो तुम सिद्ध हुये स्वयं,
इसलिये वर लो मनभावना'। ७०

तप परायण गार्ग्य मुनीश ने,
नमित हो, त्रिपुरान्तक से कहा,
' प्रभु, मुझे सुत दो, 'यदुवंश से
अजित, और पराक्रमशील भी।

तब 'तथास्तु मुने !' शिव ने कहा,
फिर गये अति दिव्य निकेत को,
निज विवाह परायण गार्ग्य भी,
सकल भू-तल में भ्रमते रहे। ७२

वह वयाधिक थे, इससे कहीं
न मिलती मन इच्छित भामिनी,
दुखित, चित्त विषण्ण हुये तभी–
समय के परिपूर्ण प्रभाव से। ७

यह सुना यवनाधिप ने कभी,
वर मिला सुत का मुनिराज को,
जरठ था वह संतति-हीन था,
बढ़ रही मन में सुत-लालसा। ७४

इसलिये उसने वर अप्सरा,
रुचिर सुन्दर अक्षत - योनि थी,
वह प्रदान किया मुनिराज को,
असन वैभव धाम · धरायुता । २५

कछुक ही दिन में मुनिराज ने,
निरख के निज भामिनि गर्भिणी,
सफल स्वीय मनोरथ है अतः,
विपिन ओर गये तप के लिए । २६

इधर पुत्र हुआ, यवनेश ने –
निज कुलोचित कर्म किया सभी,
दयित था, इससे निज राज्य का,
सबल शासक श्रेष्ठ बना दिया । २७

फिर गया वह भी तप के लिये,
यवन - शासक - आत्मज काल है,
प्रबल मागध, शाल्व नरेश का –
सुहृद है, यदु का अभिघाति है ।" २८

यह कथा सुन श्री यदुदेव ने,
प्रवर नारद से फिर यों कहा,
"यवन - यादव के इस युद्ध का –
प्रमुख कारण क्या? भगवन् कहो । २९

तब समाहित हो ऋषिराज ने,
यह कहा नररत्न मुकुन्द से,
विदित है तुमको सब भाँति से,
पर बने अनभिज्ञ, अतः सुनो। ३०

नृप जरासुत की तुमने चमू,
अखिल नाश किया बहुबार मे,
इसलिए उसने यवनेश से
अचल संधि किया निज कार्य मे।

फिर कहा–'तुम वीर प्रधान हो,
समर–कौशल मे मतिमान हो,
प्रथित है, शिव के वरदान से,
समर मे विजयी तुम हो सदा'। ३२

इस प्रकार सुना मगधेश से,
विजय-मूल, बली यवनेश ने,
सँग लिया पृतना चतुरंगिणी,
सकल यादव-यूथ विनाश को-

पणव, गोमुख औ मुरजादि से,
ध्वनित तीन करोड़ लिये चमू,
विजय-हेतु चला यवनेश, है–
विपद-संकुलिता मथुरापुरी। ३४

विपदनाशन! निश्चय है अभी–
यवनवाहिनि के सहयोग से,
मगध देश-नरेश महान का,
दुसह आगम हो रण के लिये। ३

यदि हुआ, तब तो अति कष्ट है –
अमित यादव सैन्य विनाश का,
इसलिये वह कार्य करो प्रभो !
वचन लोक प्रसिद्ध सदैव जो। ३६

न निज खंडित हो शर शस्त्र भी,
विष - प्रपूरित व्याल विनष्ट हो,
विगत त्यों कुल का वह कष्ट हो,
यवन मागध सैन्य - विनाश से। ३७

इसलिये मथुरा तज के प्रभो !
निज निवास रचो थल और मे,
प्रबल बैरि बरूथिनि नाश के –
हित उपाय यही अवशिष्ट है। ३८

समर मे छल का उपयोग भी –
उचित है वर क्षत्रिय के लिये,
निगम आगम और पुराण का –
कथन है, समयोचित धर्म है।" ३९

चतुर नारद यों कह कृष्ण से,
यवन - जन्म तथाविध कर्म भी,
मुदित पूजित हो यदुवीर से,
सफल काम, गये तपलोक को। ४०

—०—

चतुर्थ-सर्ग

(भुजंग प्रयात)

अभी थी निशा घोर-रूपा तमिस्रा,
महिम्ना मही मे वही शून्यता थी,
वही तारका - जाल था व्योमचारी,
पुरद्वार मे था वही शब्द भारी। १

उसी भॉति वे वीर भी गर्जते थे,
दुरात्मा सभी यावनी - सैन्य वाले,
उसी भॉति थी यादवो मे दुराशा,
बली कृष्ण है, थी यही एक आशा। २

सभी बन्धु कसारि के पास बैठे,
करे चिन्तना नाश हो शत्रु कैसे,
द्युमत्सेन अक्रूर श्री रौहिणेय,
स्वभू देववान् सात्यकी सारणादि। ३

हुआ प्रश्न यो-"क्या किया जाय वीरो!
कभी कार्य होगा नही मौनता से,
चलो युद्ध के हेतु भेरी बजा दो,
सभी यादवो की चमू भी सजादो। ४

सभी काल आपत्ति से दूर होना,
रहे दूर आपत्ति जौलो कराली,
हुआ सामने शत्रु - संतापकारी,
चलो. वीरता धीरता से लड़ेगे। ५

सदा धीरता धर्म औ मित्र नारी,
इन्हे काल आपत्ति मे देख लेना,
अतः धैर्य से ही सभी काम होगा,
रणक्षात्र ही गेह है क्षत्रियो का। ६

करो पूर्ण कर्तव्य कल्याण होगा,
महायुद्ध द्वारा सदा त्राण होगा,
बनेगे समरभूमि मे शत्रु - हंता,
हमारा विधाता न जो वाम होगा। ७

किसी ने कहा था उपर्युक्त वाणी,
तभी धीरता से ब्रजाधीश बोले -
'नही जीत पायेगे सग्राम द्वारा,
बली काल* है शक्तिशाली प्रतापी'। ८

बडी व्यग्रता युक्त पूछा सभी ने -
"कहो नाथ है काल क्यो शक्तिशाली?
जरासिध, चाणूर कसादिको को -
जिया जीत है, तुच्छ की कौन वार्ता ?९

(वशस्थ)

कहा सभी से वसुदेव - सूनु ने,
त्रिशूलधारी वरदान की कथा,
अतीव चिन्तायुत खिन्न दीन से,
अधीर हो यादव सोचने लगे। १०

*काल शब्द काल यवन का सकेत है।

उन्हे प्रबोधा बलराम वीर ने,
पुनः महात्मा ब्रजचन्द्र ने कहा –
'अहो ! प्रतापी यदुवंश मे हुआ,
कुमानुषी - कायरता - निवास है । ११

अभी कहा था यह वाक्य आपने,
विपत्ति मे भूषण धीरता रहे ।
परन्तु क्या है ? इस काल मे स्वय –
अधीर होते, यतचित्त हो सुनो ! १२

सपत्न के सम्मुख युद्धभूमि मे –
निचेष्ट हो प्राण पयाण भी करे,
पुलोमजा - पालक - दिव्यलोक मे,
निवास होगा सुख-शान्ति से सदा । १३

परन्तु तो भी यह नीति है नहीं,
महाबली से रण - रग - कामना,
उपाय होगा इस हेतु और ही,
जय प्रदाता निज बुद्धि वीर्य से । १४

स्वकीय जन्मावनि दुःख हारिणी,
विकास - कर्त्री सुखदायिनी प्रसू !
इसलिए मा अरु जन्ममेदिनी
सुरेश के मदिर से गरीयसी । १५

परन्तु हा, आज इसे सदैव के-
लिये तजेंगे, निज कार्य सिद्धि को,
प्रतीत है, काल अतीव क्लिष्ट है,
विधान होता विधि का बलिष्ट है। १६

अतः चले बालक नारि वृन्द ले,
कहीं रचेंगे निज वास दूसरा,
पड़ा यही योग मदीय जन्म में,
निवास का निश्चय हो कहीं नहीं। १७

कराल कारागृह जन्मभूमि है,
बड़ा हुआ गोकुल-ग्राम मध्य में,
कला दिखायी विधि ने अलौकिका,
निवास वृन्दाबन मध्य हो गया। १८

व्यतीत यूँ ही कुछ वर्ष थे तभी,
मुझे बुलाया नृप कंस ने यहाँ,
रहा तभी मैं फिर जन्मभूमि में,
परन्तु संघर्ष अशान्त ही रहा। १९

मदीय थी जन्म घटी शुभा नहीं,
विषादिनी, दुःख-विवर्धिनी हुई,
अबोध पौगंड किशोर-काल में-
प्रहार थे मृत्यु-समान आसुरी। २०

हुए सदा, और अनेक हो रहे,
अभी न जाने कितने दिखा पड़े,
इसीलिये तो इस जन्मभूमि से—
विरक्त होना सब भाँति श्रेष्ठ है। २१

[द्रुत विलम्बित]

उचित कानन मंदिर में सदा,
सुख प्रदायिनि शान्ति-निवास है,
जहँ न दुर्जय द्वेष, न त्रास है,
बसु-विलुम्पक षट् रिपु नाश है। २२

मनुज का वह जीवन श्रेष्ठ है,
सुरुचि शान्ति मिले जिसमें सदा,
सुख मिला न कभी त्रयलोक में,
विषय-लोलुप और अशान्त को। २३

इसलिये उस मेदिनि में रचें,
निज निवास जहाँ सुख-शान्ति हो,
दुख मिटे पुर के, यदुवंश के,
अब उपाय यही अवशिष्ट है।" २४

वचन यों सुन यादव वृन्द ने—
मुदित हो अनुमोदन भी किया,
फिर कहा—'यदुनाथ, प्रभो! तुम्हीं'
प्रणत के सब भाँति सहायँ हो। २५

प्रथम में चतुरानन हो तुम्हीं,
जगत उद्भव थे करते हरे!
सतत लालन - पालन - काल में,
तनु चतुर्भुज का धरते तथा-२६

त्रिपुर - अतक होकर अंत मे,
कर रहे जग का अवमान भी,
इमि समुद्भव, पालन, नाश के,
प्रमुख कारण एक तुम्हीं प्रभो! २७

इसलिये भवदीय विचार मे,
न कहना कुछ भी हमको रहा,
यवन के इस कार्य - कलाप से,
विगत - बन्धन यादव शीघ्र हो"। २८

वचन यों सुन नीरजनैन ने,
दुखित यादव वृन्द बिदा किया,
फिर भुजंगम वैरि खगेश का,
स्मरण सयत हो करने लगे। २९

बस उसी क्षण मे अति वेग से,
गरुड़ का सुखदागम भी हुआ,
नमनशील खगाधिप ने कहा -
यदुपते! यह सेवक है खड़ा। ३०

विमल आशिष केवल चाहिये,
प्रभु कहो, वह कौन विचार है ?
कठिन हो, फिर भी उस कार्य का,
मुदित हो प्रतिपादन मैं करूँ। ३१

व्रज - विभूषण ने तब यों कहा -
गरुड़ वीर धुरीण, अनन्य हो,
दुखित यादव - वर्ग - निवास का -
तुरत खोज करो शुभ भूमि में। ३२

वह पुरी मथुरा अरि सैन्य से,
व्यथित है, रिपु मंडल - लक्ष्य है,
इसलिये अब और निवास हो,
जहँ बसें सुख से गत त्रास हों। ३३

गरुड़ भूतल में वह वास भी -
अगम हो अरि - मंडल के लिये,
अनल आशुग या जल - दुर्ग हो,
बहुत ही सुखदा वह हो रमा। ३४

वचन यों सुन कश्यप - सूनु के -
अमित हर्ष हुआ, नभ-मार्ग में -
विदिस में, दिसि में, नभ, भूमि में,
विपिन में, गिरि में, मरु देश में। ३५

सकल दीपन मे, नव खंड मे,
भ्रमित हो वरुणालय भी गये,
निरति - पश्चिम - मध्य उन्हे मिली,
शुभ रमा सुखदा शुचि रातिदा । ३६

विविध पादप - वृन्द जहाँ तहाँ,-
लसित थे धरणी कल अक मे,
झुक रही जिनकी बहु डालियाँ -
कुसुम - कुड्मल कोरक भार से । ३७

अरु कहीं फल भार विपीडिता,
नतसिरा पवमान विदोलिता,
नयन को अति सुन्दर दीखती,
फलवती वह थी वन की रमा । ३८

विटप से लिपटीं लतिका अहा
समद कामिनि प्रीतम से यथा,
लघु इला, अमृता, नवमालिका,
वर लवंग, मरा, अरु यूथिका । ३९

सुखद शान्त समीरण चाल थी,
मृदुलता शुचि शीत सुगध ले,
विपिन था मनमोहक पान्थ का
श्रम सभी हरता क्षण मात्र में । ४०

गरुड़ देख रहे इस दृश्य को,
मन प्रसन्न हुआ, श्रम पूर्ण था,
तुरत ही यदुनन्दन - पास आ,
सकल कार्य - कलाप सुझा दिया। ४१

यह सुना यदुनायक ने, तभी,
गरुड से अति हर्षित हो कहा,
'बस चलो, उस सुन्दर भूमि में,
निज निवास रचें अब शीघ्र ही।' ४२

गरुड,वाहन वाहन में चढ़े,
नमुचिसूदन ज्यों नभयान में,
फिर चले उस सुन्दर द्वीप को,
सुखद जो सब भाँति सुयोग्य था। ४३

उदधि के अति दुर्गम दुर्ग में,
रुचिर रैवत शैल विशाल था,
विटप - राजि - विराजित रूप में —
अवनि सुन्दरता - शुचि सार था। ४४

यह सुदृश्य विलोक मुकुन्द के,
वदन पंकज से निकला—'अहा!
प्रकृति ने विरचा कर स्वीय से,
इसलिये यह है सुखदा मही। ४५

गरुड़! है यह सर्वसहा नहीं,
विपुल खण्ड जहाँ गम लोक का,
प्रथित है इतिहास जहाँ, तहाँ,
भुवि नरेशन की कल - कीर्ति का । ४६

(वसन्ततिलका)

त्यागी, सुशील, जन पालक, धर्मगोप्ता,
शर्याति भूपवर थे सुकृती सुदानी,
स्वार्थान्धता विमुख थे, द्विज, देव सेवी,
विज्ञान ज्ञान गुन थे सुख शान्तिकारी । ४७

थे शक्र तुल्य सुत तीन सुधी बलीयान्,
उत्तानबर्हि सब ज्येष्ठ द्विजामणी से,
आनर्त ज्ञान रत्नाकर ओषधीश,
थे भूरिषेण बल वैभव शक्तिशाली । ४८

शर्याति ने समद वाक्य कहा सभी से
'वीरो! सुनो, यह मही मम बाहु-लब्धा,
जाते सदा सबल पालक में रहेगा,
त्राता, बिना अमित मानवती मही का । ४९

है मो समान बलवीर नहीं, न होगा,
भूखंड में, विवर में, सुरलोक में भी,
जो द्वन्द्व युद्ध करके मुझको हटा दे,
सन्ताप सी रणतृषा सहसा बुझा दे ।' ५०

ऐसा कहा नृपति ने, तब तो महात्मा–
आनर्त ने क्षुभित-चित्त, कहा पिता से,
'है भूमि भूमिधर की ! वह विश्वत्राता !
उत्पन्न और परिपालन, नाशकर्त्ता। ५१

ऐसे अनेक जग को वह पालता है,
प्राणी अधर्मरत का नित नाश कर्ता,
श्री शक्तिमान, वह वैभववान सो भी,
आत्माभिराम जन-मानस वास हारी। ५२

बोले नृपेन्द्र,–मतिमंद ! न शक्ति तेरी,
ऐसा कहे, यदपि तू सुत है हमारा,
तो जा वहाँ, जहँ न हो, मम राज्य उर्वी,
देखूँ तुझे शुभ निवास कहाँ मिलेगा'? ५३

था वाक्य वज्र सम, जो नृप ने कहा था,
आनर्त के हृदय में बिंध ही गया वो,
चिन्ता - विलीन मन हो निकले वहाँ से,
एकान्तिनी तप किया अरुणोदकूले। ५४

हे वैनतेय ! हमने नृप से कहा था,
'लो माँग जो वर तुम्हें मनभावना हो'
आनर्त भी मुदित हो विनती सुना के–
बोले–"प्रभो अगम है महिमा तुम्हारी। ५५

देते विभो, यदि मुझे वर स्वाभिलाषी,
तो वास दो जहँ न हो पितु राज्य उर्वी"
मैंने कहा–"तव तथास्तु !" तभी वहाँ से,
वैकुण्ठ-खंड शत योजन का गिराया। ५६

था अब्धि में पतित, सो यह मेदिनी है,
आनर्त ने अटल राज्य किया यहीं था,
थे पुत्र रैवत महीश महा प्रतापी,
थी कन्यका नृपति रैवत के शुभांगी। ५७

लावण्य रूप-सुभगा, सुमुखी, कृशांगी,
सद्गीतवादनपरा मधुरा मनोज्ञा,
था रेवती प्रवरनाम प्रमोदकारी,
जो है विवाहित हलायुध में ललामा। ५८

हे वैनतेय, यह भूमि वही लखाती,
वैकुण्ठ में पृथुल है, ममवास योग्या,
आवो रचो यदुपुरी शुभ द्वारकाख्या,
सर्वार्थिनी विजयिनी वर वीथियुक्ता। ५९

(मंदाक्रांता)

आज्ञा पाके विहँगवर ने विश्वकर्मा बुलाया,
ऊँचा नीचा समतल किया, मंदिरों को सजाया,
त्यूँही योगीश्वर तुरत ही योग की शक्ति द्वारा,
आत्मीयों को, सकल कुल को द्वारका में बसाया। ६०

———०———

पञ्चम-सर्ग

(स्वागता)

तीसरा प्रहर यामिनि का था,
व्योम था विमल, तारकशोभी,
निश्चला प्रकृति नीरव - भूता,
शान्त औ सुखप्रदा, क्षणदा थी। १

गेह, द्वार, वर - तोरण नाना -
शृंग, चैत्य, पुर गोपुर रथ्या।
झाड़ियाँ विटप, बेलि - ललामा,
थीं सभी निबिड़-तोम छिपी सी। २

हो गया कछुक ही घटिका में,
विश्व - मंच - परिवर्तन सारा,
थी जहाँ रुचिर शान्ति, वहाँ पै -
पक्षि - वृन्द करते कल प्यारा। ३

हो गया गगन श्वेत सभी था,
जानि देव अरुणोदय वेला,
व्योम के विमल दीप बुझे वे,
जो अभी तमस में जलते थे। ४

हो गयी लज्जित लोहित प्राची,
भानु का अरुण मंडल आया,
अट्ट में विटप - वृन्द - शिखा में,
लालिमा मुदमयी लगती थी। ५

सोचता यवन - नायक यों था,
द्वार मार्ग निकले वनमाली,
भागते चपल चंचलता से,
काल-वीर भय से, इक ओर । ११

था अवश्य यह कौतुक भारी,
रुक्मिणीरमण की कुछ लीला,
कंस, मागध, अरिष्ट नसाया,
काल को प्रथन पीठ दिखाया । १२

जीतते सब दिनों सबको थे,
आज दैव विपरीत हुआ है,
किन्तु ब्रह्म परिपूर्ण - सुधी को,
भागना सुफलदायक भी था । १३

कृष्ण का सफल साधन था, औ -
काल का निधन भी इसमें ही,
देख के यवन - नायक मूढ़,
चिन्त्यमान सहसा उठ धाया । १४

सोचता बस यही नृपद्रोही,
कंस मागध - विमर्दनकारी,
जो कहा, प्रवर नारद ने था,
लक्ष्म कंश - रिपु के मिलते हैं । १५

चार हैं सुभुज श्यामल सारा,
कंठ - कम्बु सम मौक्तिक - शोभी।
नेत्र हैं, नलिन से अरुणारे,
कान्तियुक्त कल कुन्तल कारे। १६

विद्यु से वसन पीत विराजैं,
शोभती उरसि श्री वनमाला,
मध्य में रुचिर कौस्तुभ धारे,
मार से मृदुल - मूर्ति सवांरे। १७

शीश पे मुकुट कीट विराजैं,
कान में कलित कुण्डल भ्राजैं,
बिम्ब से अधर, उन्नत नासा,
चारुता चिबुक की अतिरम्या। १८

लक्ष्म हैं सकल, पै यह कैसे,
भागता अति भयातुर जैसे,
अस्त्र, शस्त्र प्रविदारण त्यागा,
प्राण ले कुटिल कायर भागा। १९

है अवश्य कुछ कारण भारी,
जो पलायन किया इसने यों,
साहसी नृपति - वीर - विजेता ?
क्रूर है, कुटिल है, कपटी है। २०

क्या करूँ प्रथम दौड़ चलूँ मैं,
हो गया यदि मुझे छल कोई ?
पै नहीं, यह मुझे पकड़ेगा,
है असंभव ! चलूँ अब मैं भी । २१

शाल्व, मागध, सभी कहते थे,
वीर है प्रबल, कंश - निहंता,
झूँठ थी वह कथा, बनमाली -
धूर्त है, निपट कायर, कामी । २२

जो चलूँ विरथ से लड़ने को,
धर्म है न यह बीरवरों का,
त्यागता सकल शस्त्र अतः लो,
शत्रु के सदृश हूँ, अब मैं भी । २३

सुप्त और मदमत्त जनों को,
बाल को, विरथ को, वनिता को,
भीत औ शरण - प्राप्त जनों को,
मारना अति अधर्म कहा है । २४

है निशस्त्र फिर भी इसको मैं,
बाँध के नृपति मागध को दूँ,
तो अतीव यश उत्तम मेरा,
साथ ही विजय भी विपुला हो । २५

यों विचार यवनेश छली ने,
　　त्याग के कठिन आयुध सारे,
हो पदाति प्रभु की पदवी को,
　　इन्द्र का असनि ज्यों, वह दौड़ा। २६

हैं समीप फिर भी नहिं पाता,
　　कूदता, उछलता, मग में था,
क्रोध से अधर को दराता था,
　　नैन के ज्वलन में जलता था। २७

चन्द्र - बिम्ब सम श्याम लखाते,
　　विद्यु से वसन वेष्टित देह,
धावमान यवनेश दुरात्मा,
　　राहु सा वह प्रतीत हुआ है। २८

है अवश्य यह अद्भुत गाथा,
　　श्याम वर्ण शशि के ग्रसने का,
किन्तु पीत पट से प्रणिधाना,
　　श्यामली सुछवि पीत लखाती। २९

कालिमा यदपि थी, जँचती वो -
　　चन्द्र - बिम्ब महँ मेचक भूला,
काल - राहु - ग्रसमान अतः है,
　　चंचला चपलता युत शोभा। ३०

हो गया श्रमित आतप मे था,
किन्तु लोभ वश दौड़ रहा है,
हो विषण्ण यवनेश्वर बोला,
ज्यों बलाहक करे रव भारी। ३१

"वासुदेव! यह क्या करता है?
साहसी! समर मे डरता है?
शाति और सुख वो कहॉं पाता,
जो हुआ अखिल भूपति द्रोही। ३२

कृष्ण! धर्म यह क्षत्रिय का है—
पीठ शत्रु - दल को दिखलाना?
पै नहीं, प्रवर क्षत्रिय क्यों तू,
ग्वाल है, पसुप का सुत है तू!। ३३

वीर उच्च कुल का यदि होता,
तो न युद्ध - थल पीठ दिखाता,
मारता अपितु तू मर जाता,
क्षत्र वंश - कुकलक न होता। ३४

वीर कंश वर बाहुज था, जो—
देश मे विजय की, दृढ़ हो के,
किन्तु, हा! यह कलक महा, जो—
हाथ से मृतक है वह तेरे। ३५

हो खड़ा! स्वकुलपांसन! क्रूर!
छोड़ता अब नहीं, तुझको मैं!
आज लौं जय किया छल द्वारा,
छद्म से नृपति कंश सँहारा। ४१

तोड़ सर्व खड् - यन्त्र अभी मैं,
फोड़ दूँ, विष - प्रपूरित भंडा!
मूल से विटप नष्ट करूँगा,
क्यों प्रसून, फल, पत्र मिलेंगे। ४२

नीच से गरुअता न सुहाती,
औ न गर्दभ - गले मणि - माला,
सभ्यता न तुझसे शुभ, त्यूँ ही,
दानवी दमन से दलता हूँ। ४३

भाषमाण यवनेश्वर यूँ ही,
पै सुनैं न कछु भी बनमाली,
वेग से वह पलायित, मानो -
लौह सी तप रही धरणी है। ४४

खेट, खर्बट, दरी, गिरि नाना -
आटवी, अमित सानु पछारा,
अन्त को सघन शैल-गुफा के -
ध्वान्त में त्वरित लुप्त हुए, वे। ४५

षष्ठ-सर्ग

(शालिनी)

अंधीभूता देखने में गुफा थी,
अन्तः से वो व्यावृता कन्दरा थी.
किंचित्किंचिन्भासमाना, सुसेव्या,
रम्या धन्या योग-संसिद्धिदा थी । १

ग्रामीणों को रौद्र, काली कराली,
निवृत्तों को प्रेमरूपा परा थी,
वंशीवाले को निजागार सी थी,
म्लेच्छस्वामी–काल को कालरूपी । २

ऐसे ही में है सदा शांति पाता,
योगाकांक्षी मर्त्य ज्ञानी, अमानी ।
सारी बाधा विश्व की दूर होती,
तृष्णा, चिंता-चातकी चूर होती । ३

देखा ज्यों ही रम्यता कन्दरा की,
वंशीवाले प्रेम से वाक्य बोले,
सत्यः होती शान्ति निष्किंचनों को,
जो आते हैं, पर्वतों की गुफा में । ४

ऐसी बातें सोचते पद्ममाली ,
आगे देखा व्यक्ति है एक सोता ,
शोभा पाता चर्म है साथरो पै ,
पर्यंकों का मान जो मर्दता था । ५

नीचे यों था और कौशेय द्वारा ,
सारी काया तेजरूपी ढँकी थी ,
मानो कोई पात्र से वन्दिता है
विद्युद्गामी तेजसी ज्वालमाला । ६ ।

(द्रुत विलंबित)

यह दशा अवलोक मुकुन्द को ,
विगत त्रास हुई यवनेश की ,
हृदय में तब यों कहने लगे ,
अधिक निद्रित मानव देख के । ७

(शार्दूल विक्रीडित)

धर्मात्मा सुकृती सुरेन्द्र सम, श्री-इक्ष्वाकु के वंश में ,
माधाता नृप थे, प्रजा-प्रिय महा-दानी विरागी, व्रती,
प्यारे हैं मुचकुन्द सूनु उनके, सोते गुफा-ध्वान्त में ,
पाले हैं बहु काल लौं प्रिय प्रजा सद्दान मानादि में । ८

(द्रुत विलंबित छन्द)

त्रिदिव - मुग्धकरी सुर - संपदा,
विजय की सहसा दिति-वंश ने,
बिचरते सुर थे, बहु वेष में -
धरणि में, दुख मानस में महा । ९

इस प्रकार पराजित हो गये,
सुर समूह - समेत सुरेन्द्र भी,
विनत हो, मुचकुन्द समीप आ,
निज विपत्ति-कथा कहने लगे। १०

सब सुना, विजयी मुचकुन्द का,
हृदय दुःख-प्रपूरित हो गया,
मथन के हित दैत्य समूह से,
अमर संग गये सुरलोक को। ११

दितिज वाहिनि कोप - प्रपूरिता,
अमर साथ लखा नृप को जभी,
विबुध - वृन्द समीड़ित भूप भी,
रिपु-अनीकिनि पै झपटे तभी। १२

झपत सूक्ष्म लवा पर बाज ज्यों,
हरिण पै चलता मृगराज ज्यों,
दनुज वाहिनि पै नरराज त्यों,
झपटते, करते बहु युद्ध थे। १३

असुर की कुल सैन्य नसा दिया,
अधिक को कर भग्न भगा दिया,
पर लगा इसमें बहु काल था,
नृपति वीर बली मुचकुन्द को। १४

विजय – श्री कर प्राप्त नरेश ने,
वह समग्र दिया अमरेश को,
फिर कहा-"भगवन् यदि हो दया,
शुभ प्रयाण करूँ निज लोक को।"१५

चकित चिन्तित हो पुरहूत ने,
यह कहा–"नृपते! अति शोक है!
कुटिल काल कराल विधान का,
यह महा परिवर्तन होगया। १६

न अब है तव वे सहधर्मिणी,
तनय भ्रात न पौत्र प्रजादि भी,
समय के उस वज्र - प्रहार से,
सब विनष्ट हुये इस काल हा! १७

त्रिदिव की गति औ भुवलोक की,
प्रथित काल - विपर्यय भाव से,
नृपति! लो वर जो मन में रुचे,
सुखस्वरूप, बिना अपवर्ग के।"१८

नमुचिसूदन के यह वाक्य ही,
हृदय में खर वज्र प्रहार थे,
अधिक चिन्तित हो नृप ने कहा,
वर-विराग प्रपूरित बैन यों। १९

"सुरपते ! वर की रुचि है नहीं,
यदि विनष्ट हुआ वह काज है,
वचन किन्तु त्वदीय निबाहना,
इसलिये वर वांछित दो मुझे। २०

समर के श्रम से अतिक्लांत हूँ,
तदपि लोचन नींद न आरही।
इसलिये बहुकाल सुषुप्ति का,
अधिक आनंद लूँ गिरि कन्दरा। २१

अथ च जो जन भंग करे तभी,
कुटिल दृष्टि पड़े वह भस्म हो।
तदुपरान्त लखूँ निज नैन से,
सगुण रूप, अगोचर-ब्रह्म का। २२

सगुण निर्गुण में नहिं भेद है,
उभय रूप विभाजित ब्रह्म के।
कठिन निर्गुण ब्रह्म-उपासना,
सगुण में रुचि है इस हेतु से"। २३

तब "तथास्तु" कहा अमरेश ने,
नृपति हो अति आदर से विदा।
अब यहाँ पर हैं सुख-नींद में,
समय प्राप्त शचीपति-वाक्य का। २४

यवन का बस आज विनाश है,
विगत यादव का सब त्रास है।
नृपति का शुचि भाग्य-विकास है,
धरणि का हलका कुछ भार भी। २५

यह विचार, गये छिप ध्वान्त में,
बृज-विभूषण, भूषण वंश के,
उधर था यवनेश विचारता,
अति विभीषण, भीषण द्वार पै। २६

अब चलूँ यदि मैं गुह मध्य में,
पर नहीं, यह शत्रु-निवास है।
विरथ हूँ, शर शस्त्र-विहीन हूँ,
कुटिल है सुत वो वसुदेव का। २७

वर परन्तु मुझे शिव का मिला,
सुमुख मे यदुवंश न हो खडा।
इसलिये वह है किस भूल में,
मसल दूँ नवकोमल फूल सा। २८

यह विचार चला गुह-मध्य को,
ठिठकता चलता फिर ध्वान्त मे।
तक रहा सब ओर स्व-शत्रु को,
मति विदूषित है, विधि बाम है। २९

वह गया गुह मध्य-प्रदेश में,
जहँ निरन्तर धूम्र प्रकाश था।
समद स्वाप परायण मर्त्य था,
वसन पीत सुरम्य निचोल था। ३०

यवन ने अनुमान किया तभी,
अति विनिद्रित मानव देख के।
यह वही व्रजनन्दन सो रहा,
विलसता परिधान सुपीत है। ३१

मरण काल समीप रहे जब,
प्रथम ही वर बुद्धि विनाश है।
कठिन काल कुपाश बँधा हुआ,
जरठ जीव नहीं कुछ सोचता। ३२

इसलिये यवनेश कुबुद्धि से,
न कुछ सोच सका परिणाम भी,
अकुल काल यथा अति हर्ष से,
उरग को गहता, उस भाँति था। ३३

कुटिल भाव भरी मुख होठ को –
दशन से दबाता, अति क्रोध से –
फिर कहा,-शठ ! तू मुझसे बचे ?
यह असम्भव है सब काल में। ३४

कुटिल ! कायरता - बस है तजा,
दुखित यादव औ पितुमातु को,
अभय होकर यो अब सो रहा,
नहि रहा तुझसा जग पातकी। ३५

नच रहा शिर पै यदि काल है,
तब पलायन से फल भी नहीं,
बस विचार यही, तव काल मै,
उठ ! विलोक ! वही यवनेश हूँ'। ३६

यह कहा, फिर पाद प्रहार से –
विगत नींद किया मुचकुन्द को,
नृप उठे, अरु लोचन से लखा,
अधिक दारुण दृश्य, भयावना। ३७

निकट मे जलता नर-काय था,
अनल की लपटे उठती वहाँ,
लख रहे नृप भी अनिमेष हो,
असित चिन्तित, विस्मित भाव मे। ३८

यह वही विजयी यवनेश था,
नृपति नैन-विभावसु से जला,
कवल-काल–कराल-महेश का,
नमुचिसूदन के वरदान मे। ३९

सुभग थे बक, वत्सक, पूतना,
अघ, प्रलंब, अपावन कंश भी,
मरण काल लखा जिन कृष्ण को,
यवन नायक वंचित ही रहा। ४०

पर न हानि हुई इसमें कभी,
मरण में मन में ब्रजचन्द्र थे,
मनुज की मति हो जिस लक्ष्य में,
बस वही गति अन्त-विधेय है। ४१

नृपति के अवलोकन ही हुआ,
सहित अस्थि अनाश्रित, क्षार ज्यों,
उठ रहीं लपटें अबलों जहाँ,
धरणि में कुछ भस्म पड़ी वहाँ। ४२

(मंदाक्रान्ता)

ऐसी लीला नृपतिवर ने है लखा, व्यग्रता से,
धीरे धीरे स्मरण करते पूर्व का हाल सारा,
सारी बातें मन-मुकुर में हो रहीं अंकमाना,
चिन्तायें थीं सकल उर जो, भग्न हो भागती थीं। ४३

सप्तम-सर्ग

(मालिनी)

अतुलित नृप चिन्ता तामसी रात्रि सी थी ,
गिरि घन सम, सारा दृश्य था भीम रूपी ,
विकल मन हुआ है भूप का, पद्म सा त्यों ,
प्रकट तरणि से थे, देवकी पुत्र प्यारे। १

वह रुचिर छटा थी, सौम्य लावण्य रूपी ,
प्रमुदित मन होता मूर्ति के दर्शनों में ,
जलधर सम नीला गात था, पीत थे जो -
बसन, तडित की सी तुल्यता है दिखाते। २

(द्रुत बिलंबित छन्द)

कलित कंध पड़ा उपवीत जो ,
विलसता जिमि है धनु इन्द्र का ,
दशन भी बक-पाँति समान थे,
कर किलोल रहे मुख-व्योम मे । ३

मकर - कुंडल कुंचित कान मे,
हिल रहे वह ज्यों उड़ते अहा ,
नृपति का मन, मत्त-मयूर भी,
लख बलाहक को रममाण था। ४

यह बिलोकि सुधी मुचकुन्द ने ,
समय प्रावृट की सुषमा महा ,
नयन से बहु नीर बहा रहे ,
जलद के समयोचित वुन्द भी। ५

तदुपरान्त चतुर्भुज ने कहा -
"हरि कहो यह कौन स्वरूप है ?
कब हुआ ? किसके कुल में हुआ ?
किसलिये ? प्रभु का अवतार है ? ६

फिर हुआ कुछ कुंठित धर्म क्या ,
अरु अधर्म विवर्द्धित हो गया ?
दलित गो, द्विज देव दुखी हुये ?
असुर में अविचार बढ़ा हुआ । ७

प्रभु ! कहो यह हिंसक कौन है ,
जल गया सुर के वरदान से ,
कुछ प्रयोजन था मुझसे जहाँ ,
अधम ने निज काल बुला लिया । ८

प्रणत-पालक ! मैं अति भ्रान्त था ,
इसलिये गृह मध्य प्रसुप्त था ,
न शुभ आगम का कुछ ज्ञान था ,
मदन मोहन ! सो कर दो क्षमा" । ९

वचन यों सुन आनंद कन्द ने ,
समुद श्रीमुख से नृप से कहा -
"अमित नाम स्वरूप मदीय हैं ,
अपितु अर्थ सुनो इस रूप का । १०

अधिक पूरित था जग पाप से ,
कर अनीति रहे नृप आसुरी ,
प्रणव ब्राह्मण, गो सुर का हुआ ,
अति अनादर जो कि असह्य था । ११

बस, तभी चतुरानन ने किया ,
स्तुति मदीय प्रपचरता महा
जगत की स्थिति सर्व सुभा दिया ,
यद्यपि मैं सब भाँति अभिज्ञ था । १०

इसलिये अवतार लिया गया ,
कलुपनाशन के हित लोक का
जनक है बसुदेव विराजते ,
जननि - भूषण देवक की सुता । १३

बध किया बक, वत्सक, पूतना,
अमित - विक्रम कंश नरेश का,
यवन था कुल - यादव दुर्जयी,
वह विदग्ध हुआ तव तेज से । १४

अधिक कार्य अभी करना मुझे,
इसलिए कुछ काल निवास है,
धरणि का हलका जब भार हो,
तब पयान करूँ निज लोक को । १५

कह चुका अब मैं अपनी कथा,
नृप कहो, वह है दिन याद क्या ?
नमुचिसूदन ने वर था दिया,
"सगुण रूप लखो भगवान का।"१६

वचन सत्य करूँ अमरेश के,
इसलिये मम आगम है हुआ,
मनुज पाकर यों मुझको कभी,
न करता कुछ अन्य विचार है। १७

(शार्दूलविक्रीडित)

वाणी यों मुचकुन्द ये सुन रहे, सत्प्रेम की मूर्ति से,
सच्छिन्ना सब हो गई, अतुल थीं जो चित्त की ग्रन्थियाँ,
नैनों से उस रूप को निरखते, तो भी अघाते नहीं,
डूबे प्रेम-पयोधि में, इसलिये-अव्यक्त थे भाव भी। १८

शोभासींव व्रजेश के मिलन से वाणी गई मूक हो,
होते भाव अनेक थे उदय, पै सामर्थ्य थी कौन को,
आँखों से बहता सुनीर, मुख में निस्तब्धता थी महा,
बोले किन्तु सप्रेम जोड़ कर वे, थे शब्द जो गद्गदे। १९

(कनकमजरी)

प्रणतपाल जो नाथ हो सदा,
प्रणत है विभो, दास आपका,
अब दया करो दीन हीन पै,
बहुत हो चुका दो क्षमा प्रभो। २०

पतित को सदा तारते तुम्हीं ,
कमल नेत्र ! किंचित्कटाक्ष से ,
इसलिये हरे तारदो मुझे ,
पतित हूँ महा विश्व कोप मे । २१

यदि बने तुम्हीं दीनबन्धु हो ,
तदपि छूटने का न नाम लो ,
परम दीन हूँ मैं इसीलिये ,
सुखद ! बन्धु मेरे बनो, विभो ! २२

हरण आर्ति के आर्तनाथ हो ,
वरद, तो चले आइये यहाँ ,
जगत मे कहीं भी मदीय सा ,
परम आर्त क्या है मिला कहीं ? २३

गद अनेक है व्याप्त देह मे ,
व्यसन हो रहे कष्ट के धनी ,
दुखद है, मुझे कष्ट दे रहे ,
इसलिये, विभो ! आर्त हूँ महा । २४

यदि प्रभो ! तुम्हीं ताप नासते ,
कुमुदकान्त से ताप तप्त को ,
बन गया सभी काम भक्त का ,
जग-त्रिताप से तप्तप्राय हूँ । २५

पुरुष पूर्ण हो आप जो महान् ,
प्रकृति - लिप्त हूँ मैं त्रिकाल मे ,
सब प्रकार संबंध ठीक है ,
दयित ! दास का और आपका । २६

कलुष नासते जीव का तुम्हीं ,
सुगति दे रहे पापवान को ,
पर कभी कहीं भी मिला, प्रभो ,
जन मदीय सा पूर्ण पातकी ? २७

ऋषभ, आपका नित्य कार्य है ,
पतित पापियों को उबारना ,
तब मुझे उन्हीं के समूह मे ,
तुरत हे हरे क्यों न दो मिला ? २८

यह न हो, यदा आज ही चले -
अघ विमोचने पापप्राणि का ,
समय ठीक था, मैं मिला तुम्हे ,
उस प्रयोग को सिद्ध तो करो । २९

दिवस हो गये है अनेक ही ,
दयित ! दर्शनो की सुआश मे ,
अरुचि हो रही अन्य कार्य से ,
अब लखूँ यही पावनी छटा । ३०

यदि न हो सके ! तो पुकार दो ,
जगत बीच में, स्पष्ट वाक्य से ,
प्रणतपाल औ दीनबन्धु भी ,
अब रहा नहीं नाम आज से । ३१

यह उपाय है विश्व - बीच से,
अजित, आपको छूटना यदि !
पर उपाधि के नाम जो हुये,
सतत के लिये छूट जायँगे ! ३२

ऋषभ ! मैं नहीं किन्तु छोड़ता,
बसन आपका, क्यों ? इसीलिये !
मन - सुहावना रूप नैन में,
रम गया, कभी भूलता नहीं । ३३

नरक - कुण्ड या स्वर्ग में रहूँ,
जगतवास या मुक्तिमार्ग में,
अरुण नैन औ श्याम - गात का,
सतत ध्यान छोड़ूँ कभी नहीं । ३४

प्रणतपाल ! हे दीनबन्धु ! हे, –
– कमलनैन ! हे कृष्ण ! हे हरे !
सुख स्वरूप ! हे वासुदेव ! हे, –
प्रिय, मुकुन्द ! हे नाथ ! त्राहिमाम् ! ३५

(द्रुत-विलंबित)

तदुपरान्त पड़े पद-पद्म पै,
नृपति प्रेम भरे पुलकाङ्ग हो,
कमल-लोचन ने निज कंठ से,
सदय भूपति को लिपटा लिया। ३६

फिर कहा—जगतीपति! प्रेम की—
प्रकट हो प्रतिमा सम पावनी,
इसलिये तुम जीवन-मुक्त हो,
अचल औ सुख, शांति-स्वरूप हो। ३७

जन अकिंचन को सुख शांति है,
हृदय की मिटती सब भ्रांति है,
बस तभी वह सत्, चित् रूप में—
अमित आनँद का अधिकारि है। ३८

नृप! चलो, भय है तुमको नहीं,
जगत के भयदायक जाल में,
भवन में, वन में, विचरो जहाँ,—
मन रुचे, तव वाञ्छित सिद्ध हो। ३९

(शार्दूल विक्रीडित)

आज्ञा यों प्रभु की मिली नृपति को, कल्याणकारी महा,
बाधा किन्तु दिनेश के गमन से, होती यथा पद्म को,
त्यों भावी यदुनाथ के विरह में, उद्विग्न से थे खड़े,
नैनों से जल मोचते, चितवते निम्नस्थ भूभाग को। ४०

———

अष्टम-सर्ग

(मंदाक्राता)

धीरे - धीरे दिन गत हुआ तामसी रात्रि आयी,
वीती सोभी फिर दिन हुआ, भानु का बिम्ब छाया,
जाना कोई यवन-पति का हाल सारा न थोड़ा,
चिन्तायें है अधिक करते यावनी-सैन्य वाले। १

(रथोद्धता)

सोचते सकल है स्वसैन्य मे,
क्या हुआ ! कुछ पता नहीं रहा,
शस्त्र-हीन यदुदेव क्यो भगे ?
जो रहे नृपति-मान भंजते। २

है घटी कुघटना अवश्य ही,
काल वीर रणवीर जो गया.
हो निरस्त्र, कुछ भेद है भरा,
देवकीश - सुत के प्रपंच मे। ३

सनसान मथुरापुरी हुयी,
पक्षि वृन्द अब है न बोलते !
क्यो गये ? कब गये ? कहाँ गये-
भीत प्राय यदुवंश के सभी ? ४

वृद्ध भी विलखते न है वहाँ,
और नहीं कलपती कुमारियाँ,
बाल भी न करते किलोल है,
वृक्ष की हिल रही न पत्तियाँ ! ५

बोलते बहुत बाजि थे जहाँ,
नर्दते नमित - शीश नाग थे,
वीर गो - वृप डहाँकते जहाँ,
आज है वह मशान भूमि सी ! ६

भेदपूर्ण ! घटना कराल ! या -
कौतुकी कठिन इन्द्रजाल है !
धीर भी पलक मे पलायता,
वीरता विकल धूल मे मिला । ७

भूप थे सकल भापते यही,
सर्व यादव अजेय, भूमि मे,
सत्य वे वचन आज है हुये,
देखता सकल स्वीय नैन मे । ८

क्या करे ? इस कराल काल मे,
शत्रु - सीम पर है पड़े हुये !
हो गया कितव का प्रहार तो, -
नाशमान चतुरंगिणी सभी । ९

किन्तु शत्रु - धुर - मध्य से टरे ?
है अनीति निज-स्वामि-साथ मे !
युद्ध मे स्वतनु आज त्याग दे,
धन्य है ! यह अतीव श्रेय है ! १०

यों रहे सभय सोचते सभी,
चिंतना - उदधि मे निमग्न थे,
त्यों हुई सुमुख वीर - वाहिनी,
नाग, बाजि, रथ से सजी हुई । ११

धूल से द्युमणि बिम्ब यभ्र था,
नाद मे ककुभ गुञ्जमान थे,
बाजि और गज है चिंघाडते,
चित्त मे प्रधन की सुलालसा । १२

देख के यवन - सैन्य मे हुई,
क्रोध, शोक, भय की विभीषिका,
किन्तु वे विकट युद्ध के लिये,
शौर्य से मुदित हो सतर्क थे । १३

आगयी वह समीप वाहिनी,
सेन ने यवन की लखा उसे,
है ! वही कुटिल यादवी चमू ?
किन्तु ये विचरते कहाँ रहे ? १४

हो रहा यह प्रयोग दूसरा,
देखतो जटिल यादवी - कृता,
जो भगा भय - विदीर्ण सा, वही-
सैन्य का प्रमुख है बना हुआ। १५

किन्तु वीर यवनेश है कहाँ?
मारना कठिन था उसे सदा,
शम्भु का वर - प्रसाद था यही,
युद्ध में यदु प्रसूत को हने। १६

तो गया वह कहाँ? नहीं नहीं,
बंदि में पड़ गया अवश्य ही,
क्योंकि ये प्रश्न हेतु हैं चले,
थी न हिम्मत कभी त्रिकाल में। १७

भाषते इस प्रकार थे सभी,
सेन भी निकट आगयी तभी,
कृष्ण ने यवन सैन्य से कहा,
सैनिको! प्रधन से अभी हटो! १८

क्योंकि वीर यवनेश, आप ही -
आप प्राण अपने तजा अभी,
तो हटो, हम न चाहते कभी
निरपराध जन-रक्तपान हो। १९

किन्तु जो जटिल युद्ध-कामना,
काल के वस हुये कुबुद्धि से,
तो करो समर धीर चित्त से,
मार लो, यदि न, तो स्वयं मरो । २०

वाक्य थे विमल वासुदेव के,
पै कुबुद्धि विपरीत हो सुने
सत्य है, क्षुधित-काम-लक्ष्य जो,
मानता न शुभ सीख श्रेष्ठ की । २१

साहसी यवनराज ने दिया,
वाक्य-उत्तर स्वकीय शस्त्र से,
शोक है! सुखद सीख में कभी,
मूर्ख से न मिलती सुदक्षिणा । २२

वारि से घृत निकाल लो भले,
बालुका-जनित तेल भी मिले,
किन्तु मूर्ख जन का सुधारना,
है असम्भव सदा त्रिकाल में । २३

हो गया प्रधन धूमधाम से,
यादवी यवन-सैन्य में तभी,
वीर हैं सकल, किन्तु यावनी,-
हीन है प्रमुख काल वीर से । २४

किन्तु खूब दिखला दिया, अहा !
वीरता यवन - सैन्य ने महा,
है रथी, अधिरथी, महारथी,
शौर्य से समरभूमि मे अड़े। २५

चौकसी चतुरता दिखा रहे,
फेंकते अमित अस्त्र शत्रु पे,
मानवी महत मान भजते,
वीर धीर जन वे अवश्य है। २६

शूर है उधर राम, कृष्ण से
सात्यकी गद, जयंत भोज से,
शस्त्र-युद्ध रिपु से मचा रहे,
अस्त्र की कुशलता दिखा रहे। २७

काटते सकल शत्रु - यूथ को,
वारि सा रुधिर है बहा रहे,
रुण्ड-मुण्ड युत मेदिनी महा,
रजिता रुधिर से अतीव है। २८

थी उड़ी धवल धूलि व्योम जो,
रक्त से रचित पंक-रूप मे -
हो गई असृण अस्त्र-खंड से,
दुर्गमा, छुरसमा, भयावनी। २६

थे कबंध उठते अनेक ही,
दौलिता यवन - सैन्य-मध्य से,
मार, मार ! रट है लगा रहे,
शीश-खंड रण-भूमि मे पड़े । ३०

हो चली रुधिर की महानदी,
वीर - यूथ मन हर्ष - वर्द्धिनी,
कादरी - हृदय को भयावनी,
जो बही यवन-रणभूमि मे । ३१

खंड थे धनुष के तरंग से,
केश थे मनुज के सिवार से,
शीश थे कमठ, हाथ मीन थे,
ग्राह से मृतक वीर है बहे । ३२

रत्न राशि सिकता समान थी,
वृक्ष कुञ्जर कटे पड़े हुये,
घाट है, रथ विभग्न खंड के,
तामसी तटिनि से सटे हुये । ३३

कंक, काक, बक, गृद्ध, भेड़िया,
औ शृगाल करते किलोल है,
पी रहे रुधिर, औ घसीटते,
यत्र-तत्र नर - वीर लोथियाँ । ३४,

डाकिनी उहरनीं डकारतीं ,
शाकिनी ममद नैन मूंदनी ,
यक्षिणी श्रम-ममान है जमीं ,
पी रही रुधिर उग्र-पूतना । ३५

हाथ खप्पर लिये जहाँ-तहाँ ,
घूमतीं जटिल जन्तु योगिनी ,
भूत,प्रेत करते विनोद हैं ,
औ पिसाच नर-मुन्डवाह थे । ३६

मांस-हीन अति क्षीण खोपडी ,
है पडी बहुत मी जहाँ - तहाँ ,
दन्त की दमकता दिखारहीं ,
लागती नयन को भयावनी । ३७

रोम-हर्षण अतीव दृश्य था ,
रौद्र था, विकट था, कराल था, ,
किन्तु वीर रणधीर के लिये ,
हर्ष-सूचक विनोद मात्र था । ३८

युद्ध मे स्वतनु जो कि त्यागता ,
आज स्वागत-निमित्त व्योम मे ,
स्वर्ण का वर विमान है लिये ,
विद्यु सी विचरती वरांगना । ३९

धन्य है ! सकल वीर धीर वे ,
त्यागते समर मे स्व-प्राण को ,
स्वामि हेतु सुत, तीय जो तजे ,
क्यो न वे मनुज-जाति-श्रेष्ठ हो । ४०

कोटि-कोटि करते उपाय है ,
यत्नशील मुनि आटवी वसे ,
पै नहीं सगुण रूप का किये ,
अत-दर्शन स्व-चर्म-चक्षु से । ४१

किन्तु आज यवनेश-सैन्य मे ,
है प्रवेश परिपूर्ण ब्रह्म का ,
मर्त्य रूप पुरुपोत्तमेश ने ,
अस्त्र से वध किया अनेक का । ४२

चक्र, कुन्त, असि, प्रास भल्ल से ,
शॉर्ग-सज्जित अनेक बाण से ,
कृष्ण ने सब नसा दिया चमू ,
रौहिणेय मुशली, हली हुये । ४३

होगयी विजय वृष्णि-वश की ,
होगया यवन सैन्य - नाश भी ,
पाञ्चजन्य-ध्वनि थी दिगत लौ ,
श्याम के वदन-पद्म-निर्गता । ४४

(वंशस्थ)

लिया सभी सैन्य चले वहाँ-कहाँ ?
जहाँ बसाया नव द्वारका पुरी ?
प्रसन्नता थी न मुखारविंद में,
स्वजन्म क्षोणी तजते-मुकुन्द के। ४५

अहा, वही है मथुरापुरी शुभा,
जहाँ हुआ केशव-दिव्य जन्म था,
प्रतीत थी पूर्व समान आज भी,
परन्तु लीला विधि की दुरत्यया। ४६

नवम-सर्ग

(वसंत–तिलका)

है जन्मभूमि धरणीतल दिव्यधामा ,
आनंद दान करती परिपूर्ण कामा ,
जो स्वर्ग मे न सुख है मन मोद कारी ,
वो दे रही प्रसव-भू जननी हमारी । १

श्री वासुदेव-मन मे इमि भाव आता ,
श्री जन्मभूमि-प्रति प्रेम असीम आता ,
है किन्तु काज-गति दुस्तर सी लखाती .
आती घड़ी प्रथम से नव-रग लाती । २

वेधा ! अहो, प्रबल है तव दिव्य लीला ,
है छेड़ती मधुर राग स्वयं सुरीला ,
होनी कुचक्र पडके पुरुपार्थ सारा –
होता विनाश मिलता न कभी सहारा । ३

जाता कभी न सुखसे नर अन्य देश ,
दुर्भाग्य के भ्रमर मे सहता क्लेश ,
हे भाग्य ! तू प्रबल है, पुरुपार्थ क्या है ,
तेरा प्रताप जगती-तल मे महा है । ४

हा ! मै हुआ विवश हूँ पुर त्यागने को ,
कर्तव्य की न चलती बस चाल एको ,
है धन्य-धन्य मथुरा नगरी मदीया ,
मै हूँ चला, करु बिदा, मम-माननीया । ५

मै भूलता न तुझको, न मुझे भुलाना ,
संतान पै करि दया ममता दिखाना ,
होता सुपुत्र जगतीतल मे कुपुत्र ,
देखा कभी न जग मे हमने कुमाता । ६

लाया स्वकीय वर साथ स्वजन्म भू को ,
लौटे चले, हरि सभीडित द्वारका को ,
पर्जन्य सा जलज-नाद किया सभी ने ,
छाया अमोघ रव, जो जय सूचना थी । ७

राजीवनैन-शुभ-आगम जान सारे ,
द्वारावती जन विचित्र गली सँवारे ,
सीची गयीं सलिल से सड़कें सभी थीं ,
गीर्वाणवद्म-गृह सी शुभमान वीथी । ८

देखे जहाँ, बस वहीं बहुरंगरूरे ,
शोभायमान नव-कुंकुम चौक पूरे ,
द्वारे धरे कलश पल्लव से सजे थे ,
औ दीप-दीप्त सब मे सब ओर से थे । ९

चामीक मे चमकते चहुँ ओर द्वार ,
वैदूर्य के वर कपाटन के कतार ,
शोभा असीम झुकि झालर दे रही थी ,
जो पाथ का विशद मानस मोहती थी । १०

केकी, कपोत, पिक, हंसन की कतारी ,
शोभायमान बहु भीतिन चित्रसारी ,
भोले बिहंग लखि रूप समीप आते ,
निर्जीव पाकर उन्हे फिर छोड़ जाते । ११

ऊँची ध्वजा सकल ओर लुभा रही थीं ,
आता समीर तब वे लहरा रही थीं ,
मानो प्रतीत करतीं, यह विश्व सारा ,
दोलायमान-नभ-आसुग के सहारे । १२

प्रासाद-ऊपर चढ़ीं बहु कामिनी थीं ,
आनंद से सुमन भी बरसा रही थीं ,
प्यारा मुकुन्द-मुख - मंजु विलोकती थीं ,
सौभाग्यवान निज नैन बना रही थीं । १३

जाते जहाँ युग-कुमार समेत सेना ,
आते वहाँ नर सभी दृग लाभ लेने ,
अंभोज से चरण मे शिर थे झुकाते ,
जन्मो-अनेक-कृत पुण्य-प्रसाद पाते । १४

था राज मार्ग वह आज प्रमोद कारी,
जाते जहाँ सबल श्री मथुरा-बिहारी,
प्रासाद थे उभय ओर विनोद कारी,
उत्तुङ्ग थे शिखर भी वर व्योमचारी। १५

निर्यात थी अगर-धूप गवाक्ष द्वारा,
था आज गंध-गुण-गर्वित मार्ग सारा,
प्रासाद पै चढ़ रहीं बहु बेलियाँ थीं,
शोभायमान वर पुण्य-सुपुष्पिता थीं। १६

वैदूर्य, मारकत को बहु भीति भातीं,
हो एक तो सबन मे प्रतिमा दिखातीं,
हो देख मुग्ध नर अद्भुत कार्य सारा,
वाणी-विमूक गति थी, न रहा सहारा। १७

देखे वहाँ अजिर से बहु चौरहे थे,
दूकान थी, नर सभी कुछ दे रहे थे,
चौकी बनीं विमल बिद्रुम की ललामा,
घूमे, थके पथिक को सुखदायिनी थीं। १८

आवाल मे ध्वनित हो उठता फुहारा,
पाता न व्योम-पथ तो गिरता विचारा,
मानो यही कह रहा दिन जो चढ़ेगा,
तो काल पाकर कभी निज से ढलेगा। १९

सौंदर्य-सज्जित विशेष विहार शाला ,
शोभामयी हरित पार्क बना निराला ,
बैठे हुये मनुज यूथ जहाँ तहाँ है ,
उत्फुल्ल पादप-समूह यहाँ वहाँ है । २०

व्यामोहिनी सुमन की बहु वाटिका है ,
सींची हुई सुखप्रदा कल क्यारियाँ है ,
रक्ताभ सब्ज सित, पाटल रंग वाले ,
औ पीत भी नवक थे खिलते निराले । २१

वापी सभी विमल विद्रुम से सजी थीं ,
स्वच्छाम्बु से सुललिता मन मोहती थीं ,
फूले समोद सरसीरुह के अनीक ,
स्वर्णाभ, कोकनद उत्पल, पुंडरीक । २२

प्रासाद जो गगन का तल नापते थे ,
वे कुंड के सलिल-मध्य दिखा रहे थे ,
मार्तंड से चमकते सब स्वर्ण-छत्र ,
यों हाल था ' मदन सन्निधि यत्र तत्र । २३

देखे वहाँ बहुत से वर वाजिशाला ,
मातंग के सदन, पावन यज्ञशाला ,
पापापहा प्रणव की ध्वनि गूँजती थी ,
भूदेव के सदन शारद कूजती थी । २४

आगे बना विपुल तोरण शोभता था,
द्वारे लगे कनक से मन मोहता था,
थे द्वारपाल कर वेत्र लिये स्वकीय,
कदर्प सी कलित कांति विलोकनीय। २५

दंडप्रणाम करते जगदीश आगे,
देखी छटा तुरत ही सब पाप भागे,
आगे सभा सजित थी सुखदा सुधर्मा,
श्री उग्रसेन नृप बैठ पवित्र कर्मा। २६

ज्यों ही लखा नृपति ने यदुनाथ आये,
त्यूँ ही उठे नयन का फल पूर्ण पाये,
श्रीकृष्ण ने चरण में शिर को नवायो,
राजेन्द्र ने सदय हो हिय में लगाया। २७

जो थे उपस्थित सभासद पुण्यधाम,
धाये सभी चरण में करने प्रणाम,
आनंद का प्रवर श्रोत प्रवाहमान,
गाते रहे प्रणतपाल-चरित्र-गान। २८

(द्रुत विलंबित)

वर दिया निज पावनि भक्ति का,
समुद श्रीपति यादव-वृन्द को,
फिर सभी जन प्रेम-पयोधि में,
प्रवहते, बहते गृह को गये। २९

दसम-सर्ग

(वंशस्थ)

पयोधि के मध्य सदा सुशोभिता ,
प्रसून अंतर्गत कर्णिका यथा ,
अतीव शोभामयि व्योम चुम्बिनी ,
विराट धानी वर 'द्वारकापुरी" ।।१

सुवर्ण से मंदिर दीप्यमान है ,
प्रभावशाली पुरहूत - सद्म से ,
प्रसून - संछादित कामरूपिणी ,
सुवाटिका नंदन को विनिंदती । २

सभा सुधर्मा सुर-वृंद-वन्दिता ,
सुपुष्प-दाता तरु पारिजात का ,
सदा स्वयं रक्षक वासुदेव है ,
अतः नहीं है उपमा त्रिलोक मे । ३

लता द्रुमो से अरु गैरिकादि से ,
सरोवरो से, फल, कंद, मूल से ,
दिखा रहा है परिपूर्ण सर्वदा ,
महाधनी रैवत-शैल व्योम लौं । ४

तमिश्र से पातक · पुंज के लिये ,
प्रभामयी भानु समान तेज मे ,
मिटा रहा पातक प्राणिमात्र का ,
पवित्र है क्षेत्र "प्रभास" भासता । ५

अशीमदानी नृग की सुकीर्ति औ – ,
असावधानी – परिणाम – रूप मे ,
मुकुन्द की तारणता दिखा रहा ,
अघौघहारी "नृगकूप" कूप सा । ६

सहर्ष देता अणिमादि सिद्धियां ,
सुधी, अमानी, शुचि,शुद्ध-चित्त को ,
अकिंचनो-सेवित शांति-कुंज सा ,
प्रसिद्ध "सिद्धाश्रम" सिद्ध-भूमि मे । ७

विचित्र चारो दिशि घाट से सजा ,
पवित्र, स्वच्छाम्बु लिये स्व-काय मे ,
विरागियो को वर ज्ञान–दान म ,
प्रसिद्धि पाता गुरु ज्ञानतीर्थ है । ८

मुकुन्द के अंगसमान श्यामता ,
अरोग होता नर स्नान मात्र से ,
हरि–प्रिया जाम्बुवती–प्रसूत १ का ,
कुरोग हर्ता शुचि "कृष्ण कुंड" है । ९

(द्रुत विलंबित)

प्रथित द्वादश योजन मे दुयी ,
जगत मंगल–कारिणि द्वारका ,
विविध तीर्थ मयी, स्मृति-अंकिता – -
कमल–लोचन की इस काल लौं । १०

---

१ जाम्बुवन्ती पुत्र साम्ब को कुष्ट रोग हुआ था, वह इसी कृष्ण कुण्ड के स्नान से नष्ट हुआ । 'गर्ग-सहिता' देखिये ।

सतत रक्षक गोपुर – पूर्व मे ,
विजय – दायक श्री हनुमान है ,
अरु सुदर्शन दक्षिण द्वार मे – ,
अटल तेज - समन्वित है खड़े । ११

ककुभ पश्चिम जाम्बवती–पिता ,
अथ च उत्तर मे हरि है स्वयं ,
इसलिये इसको अमरावती – ,
यदि कहे–कुछ भी न अयोग्य है । १२

दुरित दर्शन से सब नासते ,
उपजती हिय मे हरि - भक्ति है ,
अजित की शुचि सन्निधिकारिणी ,
चरण अमृत–सिन्धु विहारिणी । १३

अमल भक्ति–प्रपूरित मर्त्य जो ,
बस, वही जग पावन साधु है ,
निमिप भी उसके शुचि संग से ,
पतित प्राप्त करे अपवर्ग को । १४

पतित - पावन भावन भक्त के ,
सकल ताप - नसावन कृष्ण की –
विमल भक्ति हुई बहु भाँति की ,
पर विशेप कही नवधा गयी । १५

परम पावन "प्रेम" – समन्विता ,
सतत सत्व मयी कथिता "परा" ,
पृथक भक्ति हुई नव भाँति से ,
मिल रही जिसको वह धन्य है । १६

सुरुचि दायक एक उपाय है ,
जगत मोहन की सदुपासना ,
सतत – अर्चन केशव–मूर्ति का ,
परम प्रेम – प्रपूरित भाव से । १७

उपल, लौहमयी अरु दारु की ,
मणि मयी सिकती च मनोमयी ,
धरणि - लेपमयी, शुचि चित्र मे ,
मदनमोहन की प्रतिमाष्टधा । १८

मनुज जो इनमे शुभ–भाव से ,
अमल–पत्र, प्रसून, फलादि से ,
कर रहा विधि - पूर्वक अर्चना ,
बस, वही जगतीतल – धन्य है १९

पर प्रमाद भरा मन हो नहीं ,
अमल संयतचित्त त्रिकाल मे ,
प्रथित है, प्रभु प्रेम विहीन की – ,
अमित सपनि भी गहते नहीं । २०

विमल प्रेम – प्रपूरित मर्त्य की ,
परम प्रेममयी विविधा क्रिया ,
लखि जनार्दन प्रेम–पयोधि में ,
कर किलोल रहे सुख से छके। २१

सतत कीर्तन से कलिकाल में ,
सफल साधन हैं सब भाँति के ,
जगत - वन्दन श्याम – प्रसन्नता ,
सफलता, प्रिय–प्रापकता मना। २२

सुलभ जो कृत में फल ध्यान से ,
युग द्वितीय सुपूजन, यज्ञ में ,
अथ च द्वापर–सेवक–धर्म से ,
कलि वही फल कीर्तन-नाम से। २३

यदपि मर्त्य अपावन, पातकी ,
शरण में अति आरत हो अड़ा ,
पर जनार्दन की रुचिरा दया ,
मनुज को करती सुखरूप है। २४

जगत मे उनको सब एक से,
न इसमे कुछ जाति - विचार है,
द्विज - शिरोमणि या अति नीच हो,
मनुज हो अथवा मनुजाद हो। २५

जनक है सबके जगदीश ही,
जगत के प्रिय पालनहार है,
इसलिये इसके अवसान मे,
सतत नाश - परायण है वही । २६

न उनमे हममे कुछ भेद है,
विहँग है युग, पादप - एक के,
सयुज थे, उनमे फल - त्याग था,
हम अभीतक बंचित ही रहे । २७

पर न जान सका अबलौ कभी,
विमुख जीव निरञ्जन - ब्रह्म को,
जवनिका दुहुँ बीच पड़ी हुयी,
इसलिये वह ज्ञान नहीं रहा । २८

विषय के इस दुर्गम पंथ मे,
फँस गया, अब मोक्ष दुरूह है,
जनक औ सुत, भृत्य - भरोस मे -
उछलता, पर और फँसा रहा । २९

तमस व्याप्त महान ममत्व का,
विविध ग्रन्थि हुई वह तर्कणा,
सुलझता पर है अरुझा रहा,
घृणित स्वार्थ प्रपूरित कार्य मे । ३०

न धुलता मल से मल है कभी,
अनल शान्त हुआ नहि काष्ठ से,
विषय के उस सागर में पड़ा –
विषय से न हुआ उपकार है। ३१

जग वही जन जीवन धन्य है,
कुल, कृपा-युत जापर ईश का–
शुभ कटाक्ष हुआ इकवार भी,
सफल सानन स्वीय बना लिया। ३२

बस, चतुर्विध भक्तन में वही –
प्रमुख, ज्ञानि शिरोमणि सात्विकी,
प्रिय जनार्दन को सब भाँति से,
सकल नाश हुयीं जग-कामना। ३३

न चहता अणिमादिक सिद्धियाँ,
न अभिलाष शचीपति-सद्म की,
पतितपावन की अनपायिनी –
रति बिना अपवर्ग न सेव्य है। ३४

बस तभी उस जीवन मुक्त की,
पकड़ते जगदीश्वर बाँह हैं,
जगत-शोक-पयोनिधि से स्वयं,
अचिर में अखिलेश उबारते। ३५

कमललोचन का यह कर्म है,
प्रिय अकिंचन भक्त – उबारना,
धरणि का गुरु – भार उतारना,
अधम, पाप - परायण–मारना। ३६

कछुक ग्लानि हुयी जब धर्म की,
पतन सूचक वृद्धि अधर्म की,
तब दयानिधि देव करें दया,
सगुण हो धरते बहु रूप हैं। ३७

जगत के प्रतिपालक है वही,
दनुज के कुल – घातक है वही,
सतत उद्भव, पालन, नाश मे,
द्रुहिण, श्रीपति, शंकर भी वही। ३८

हर घड़ी उनका यह काम है,
प्रणत के दुख शोक विमोचना,
इसलिये अब भी जन दीन की,
दुख–विकंपित निम्न पुकार है। ३९

प्रभु। विभो! गरुड़ध्वज! हे हरे,
कमलनेत्र! चतुर्भुज! हे स्वभू,
कर दया दुख दामन का हरो,
तव बिना अवलंब न अन्य है। ४०

नाट्य—जगत मे जिसकी प्रतीक्षा थी, वही छप गया !

(लेखक—कविरत्न चन्द्रशेखर पाण्डेय 'चन्द्रमणि')

यह नाटक छपने के पूर्व ही अनेक बार सफलता-पूर्वक अभिनीत हो चुका है। अभिनय देखने के लिये जन-समूह उमड पडा था। शृङ्गार, वीर, करुणा और रौद्र के साथ-साथ हास्य-रस का पुट निखर उठा है। समुद्र—मथन से लेकर बामन का विराट रूप दशन तथा रार्जषि बलि के भूदान का दृश्य देखकर आप आश्चर्य-चकित हो जायेगे। दानशीलना के साथ ही उसका उल्टा नमूना सेठ रकमचन्द की कंजूसी की कथा से आप हँसते-हँसते लोटपोट हो जायेगे। मूल्य—एक रुपया पचीस पैसे।

उपरोक्त नाटक पर भारत के प्रसिद्ध नाटककार स्वर्गीय पं० राधेश्याम जी कथावाचक की अमूल्य सम्मति देखिये—

प्रिय चन्द्रमणि जी !

मैने देवासुर—सग्राम पढा। उसमे मुझ पर यह प्रभाव पडा कि आपको पुराण सम्बन्धी विशाल ज्ञान है। आपकी अभ्यस्त लेखनी ने नाटक को कलामय तथा विशेष चमत्कारी बना दिया है। पढते समय मै अपने को भूला रहा। सभी पात्र सुल्झे हुये एवं अपने-अपने आदर्शवादी है। हृदय को गुदगुदाते हुये सामयिक प्रहसन ने नाटक मे चार चाँद लगा दिये है। मेरी सम्मति मे यह नाटक उच्चकोटि का है।

—राधेश्याम कथावाचक